केनोपनिषत् ।

156

(१)

(लेखक- श्री० रुलियारामजी कश्यप, एम्. एस्सी.)

भेजा हुआ, किस देवका, मन दौडता, प्रति इष्टके ।
किस देवका, किया युक्त वायु, जाता गति, प्रकृष्टसे ॥१॥
से प्रेरणा, किस देवकी, यह इष्ट वाणी बोलते ।
शुभ नेत्र अरु शुभ श्रोत्र भी, हैं कौन देव, ही जोडते ॥२॥
मन पतित होता, प्राण पहिला, युक्त हो, करता गति ।
शुभ श्रोत्र, वाणी नेत्र, करते प्रयुक्त, स्वयंवर प्रजापति॥३॥
मनके परम, मन हैं वही, जो कानके, भी कान हैं ।
जो वाक् की, वाणी स्वयं, वही प्राणके, शुभ प्राण हैं ॥४॥
वह आंख की, भी आंख पर, जो त्यागकर, अत्यन्त, उन्हें ।
बुद्धिमें रमे, इह लोक त्यज, मिले शान्त, अमृत तत्त्व उन्हें५
वाणी वहां नहीं पंहुचती, नहीं आंख, जाती हैं वहां ।
जाना नहीं, नहीं जानते, मन जा नहीं, सकता वहां ॥६॥
दे शिक्षा इन, की कैसे फिर, ऊपर हैं सारे, जगसे वे ।
हैं भिन्नही, जाने हुएसे, और अनजाने से वे ॥७॥
ऐसा सुना है, पूर्वजोंसे, हमने गुरुओंसे तथा ।
उस तत्त्वका, हैं जो बताते, भेद हम पर, कर कृपा ॥८॥
वाणी से होता, नहीं प्रकट, वाणी नहीं, जिसे बोलती ।
है प्रकट होती, वाक् स्वयं, जिसके बिना, नहीं बोलती॥९॥
वही ब्रह्म है, यह जान तू, नहीं वाक् ब्रह्म, पहिचान तू ।
जिसको उपासती वाक् यह, वह शब्द ब्रह्म, न जान तू१०
मनसे जिसे, न विचारता, नहीं सोच सकता मन जिसे ।
सोचा गया है, जिससे मन, कहे ज्ञानी मन का मन जिसे ११
वही ब्रह्म है, यह जान तू, मन ब्रह्म न, पहिचान तू ।
जिसको उपासे सदा मन, वह विचार, ब्रह्म न जान तू॥१२॥
नहीं आंखसे, जिसे देखता, जिससे हैं आंखें देखतीं ।
वह ब्रह्म अचक्षु, जान तू, नहीं चक्षु जिसको उपासतीं १३
नहीं कानसे जाता सुना, सुनता स्वयम् है जिससे कान ।
वही ब्रह्म जान तू श्रोत्र न, नहीं शब्द उपासता जिसको
काम ॥१४॥
जाता नहीं जो प्राणसे, है प्राण जीवित करता जो ।
वही ब्रह्म जान, तू प्राणन, नहीं श्वास, उपासता प्राण जो१५

द्वितीय खण्ड

तू यदि माने जानता, ब्रह्मरूप मैं पूर्ण ।
ब्रह्मका है तू जानता, निश्चयरूप वह ऊन ॥१६॥
मैं मानूं तू जानता, वही ब्रह्मका भाग ।
जिसे विचारें मनुज सब, तथा देव महाभाग ॥१७॥
नहीं मानूं मैं ब्रह्म वह, सुगमतया हो ज्ञात ।
मानूं इसे अज्ञेय न, है ज्ञेय परम विख्यात ॥१८॥
मैं इस को हूं जानता, हममें से कहे जो ।
नहीं जानता मनुज वह, ज्ञानी कबहुं न सो ॥१९॥
कहे जो मैं नहीं जानता, वही जानता ब्रह्म ।
ज्ञानी उसे जग मानता, जाने वही शुद्ध ब्रह्म ॥२०॥
सका विचार न मैं उसे, यही विचारे जो ।
ब्रह्म विचारा उसीने, आत्मज्ञानी सो ॥२१॥
चुका विचार मैं ब्रह्मको, माने ऐसा जो ।
नहीं ब्रह्मको जानता, मिथ्याज्ञानी सो ॥२२॥
जान लिया सम्पूर्ण है, हमने ब्रह्म सुविशेष ।
ऐसा जो जन समझते, न जानें लवलेश ॥२३॥
नहीं जान सके ईशको, सर्वथा ही हम हीन ।
कहे ऐसा जो भक्तियुत्, सो नर ब्रह्म प्रवीण ॥२४॥
विषयरहित् विज्ञानसे, बार बार सुविचार ।
अमरपना वह प्राप्त कर, पाये ब्रह्म शुभ सार ॥२५॥
आत्मासे मिले वीर्य अरु, विद्यासे अमरत्व ।
आत्मज्ञान शुभ प्राप्त कर, खिले सुबुद्धिसत्व ॥२६॥
पहिचाना यदि ब्रह्मको, इसी जन्ममें सत्य ।
जन्म सुफलार्थ हुआ गया, मिला शुभ अमृत तत्त्व ॥२७॥
नहीं जाना इस जन्ममें, हुआ महान् विनाश ।
वही ब्रह्म अब सत्य है, था, होगा, नहीं नाश ॥२८॥
विविध चिति सभी भूत विषय, कर प्रयुक्त मतिमन्त ।
कर प्रयाण इस लोकसे, अमृत बनें सुसन्त ॥२९॥
बुद्धिमें रम भूत प्रति, कर विवेचना सूक्ष्म ।
धीर विचारक देह त्यज, अमर पायें गति सूक्ष्म ॥३०॥

देख रचन प्रति भूतमें, धीर पहिचाने ब्रह्म।
जब जावें इस लोकसे, हो अमृत सुब्रह्म ॥३१॥

॥ इति द्वितीय खण्ड समाप्त ॥

तीसरा खण्ड

देवोंके लिये ब्रह्मने, विजय प्राप्त जब की।
महिमा देवोंकी बढी, जीत हुई ब्रह्मकी ॥१॥
तब यह विचारा देवोंने, जीत सके जो हम।
महिमा हमारी है बडी, जीत गये हैं हम ॥२॥
ब्रह्म उनके इस भावको, जान हो गया प्रकट।
सम्मुख उनके सर्वथा, आवर्णरहित सुव्यक्त ॥३॥
पूजनीय आकृति यह कौन यक्ष सुमहान्।
जान सके नहीं देवगण, नहीं सके पहिचान ॥४॥
बोले वे तब अग्नि से जातवेद ! इसे जान।
कौन यक्ष यह पूज्यतम, यदि सको पहिचान ॥५॥
जो आज्ञा, कह दौडकर, यक्ष पास गया अग्न।
उसने पूछा कौन तू ? कहा जातवेद मैं अग्न ॥६॥
वह बोला तेरी शक्ति क्या ? सभी जला दूं मैं।
जो सब यह है भूमिपर, कहो दिखादूं मैं ॥७॥
तिनका रख उसके लिये, कहा जला इसे डाल।
पूर्ण वेगसे दौड वह, गया वहां तत्काल ॥८॥
जब न सका जला उसे, गया लौट तुरन्त।
नहीं जान सका कौन यह, यक्ष महा मतिमन्त ॥९॥
तब देवोंने वायुसे कहा वायो बलवान् !
पता लगा आ यक्षका, कौन यह है सुमहान् ॥१०॥
जो आज्ञा कह दौडकर, यक्ष पास गया वायु।
वह बोला तू कौन है ? मातरिश्व मैं वायु ॥११॥
उस तुझमें बल कौनसा, कहा उडा दूं सब।
जो कुछ है इस भूमि पर, कहो दिखादूं अब ॥१२॥
उसके लिये इक तिनका रख, कहा तू इसको उडा।
पूर्ण वेगसे तत् प्रति, धाव, न सका उडा ॥१३॥
लौट गया वह वहींसे, नहीं सका मैं जान।
कौन वह व्यक्ति पूज्यतम, यक्ष कौन सुमहान् ॥१४॥
इन्द्रसे बोले देव तब, पहिचानो महाराज !
मघवन् ! कौन है यक्ष यह, सम्मुख रहा विराज ॥१५॥
तथा अस्तु, कह इन्द्र जब, गया दौड उन पास।
ओझल हो गये यक्ष तब, किया न स्वप्रकाश ॥१६॥
उनके ही शुभ स्थानमें, शुभ स्त्रि गई वहां आ।
स्वर्णमयी बहुशोभिता, लक्ष्मीः श्रीः कहला ॥१७॥
इन्द्रने पूछा बताइये, देवि ! कौन यह यक्ष ?—

चौथा खण्ड

वह बोली है ब्रह्म यह मघवन् ! सुनो सुदक्ष ! ॥१८॥
इसी ब्रह्मकी जीतसे, महिमा पाई आप।
तभीसे जाना ब्रह्म यह, इन्द्र हुए निष्पाप ॥१९॥
अग्नि वायु अरु इन्द्र हैं, अन्य देवोंसे श्रेष्ठ।
छुआ इन्होंने ब्रह्म था, अति समीपसे श्रेष्ठ ॥२०॥
पहिले जाना इन्होंने, ब्रह्म सभीसे पूर्व।
तभीसे देवोंमें गये, हो यह तीन अपूर्व ॥२१॥
इन्द्र स्वयं इस लिये ही, अन्य देवोंसे ज्येष्ठ।
जाना पहिले ब्रह्मको, छू पाया नेदिष्ठ ॥२२॥
ब्रह्म उसका उपदेश यह, जो विद्युत् विद्योत।
"अ" रेखा आकार जो, वह चमके नभ ज्योत ॥२३॥
आंख झपकनेके समय, 'आ' रेखा रही पूर।
नेत्र पटल दोऊ मिलकर, ज्योती रही भरपूर ॥२४॥
नेत्र निमेषोन्मेषमें, परमात्मप्रकाश।
विद्युत् द्योताऽद्योतमें, ईश करें सुप्रकाश ॥२५॥
ब्रह्मपाठ जो यहां से, पढे सुबुद्धियुक्त।
दर्श पाय जगदीशका, होवे जीवन्मुक्त ॥२६॥
देवताओंके विषयमें, यही, ब्रह्म आदेश।
अधिदैवत कहते इसे, देव ब्रह्म संदेश ॥२७॥
आत्माके विषय ब्रह्मका, करूं वर्णन आदेश।
आध्यात्म जाता कहा, जो आत्मिक् सन्देश ॥२८॥
मन चलते की न्याईं है, प्रति क्षण करें सङ्कल्प।
इससे ब्रह्मका उपस्मरण, कहा जो शिवसङ्कल्प ॥२९॥
रखना ब्रह्म समीप मन, करना ब्रह्म विचार।
सदा सिमरना ईशको, अध्यात्म शुभसार ॥३०॥
वन नाम जगदीश जो, वननीय कमनीय।
वन समान सुविशाल है, रमणीय अतिप्रिय ॥३१॥
जगदद्वनमें विचरना, मूल नागरिक कर्म।
वनवास यह राममें, है उपासनाधर्म ॥३२॥
सुखनिवास वनवास यह, जो जाने तद् भेद।
सब प्राणि बस भक्तकी, करतीं चाहें सुवेद ॥३३॥

158

श्रीः गुरो ! कहिये उपनिषद् ! कहा उपनिषत् ज्ञान ।
सभी तुझे प्रिय शिष्य में, ब्रह्म भेद गुणखानि ॥३४॥
त्याग शिथिलता देहकी, इन्द्रिय मन शुभ कार ।
तप दम कर्म सुयुक्त हो, ब्रह्म उपनिषद् धार ॥३५॥
सत्यनिष्ठ और वेदवित्, हो रहे शिष्य सुजान ।
वेद षडङ्ग है उपनिषद्, दमप्रतिष्ठ सत्स्थान् ॥३६॥
जो ऐसे इस भेदको, जाने खोवे पाप ।
पाये प्रतिष्ठा स्वर्गमें, अनन्त ज्येष्ठ रहा व्याप ॥३७॥
स्वेच्छासे विचरे सदा, सुखी रहे सुप्रतिष्ठ ।
पुराय श्रेष्ठ दिव्य लोकमें, अन्त रहित् वरिष्ठ ॥३८॥

॥ इति केनोपनिषत् समाप्त ॥

अथ शान्ति ।

अङ्ग मेरे सभी तृप्त हों, सुप्रसन्न बलवान् ।
इन्द्रिय शक्तिसम्पन्न हों, आंख नाक मुख कान ॥१॥
स्थिति पावें सब ब्रह्ममें, वहीं रहें सब काल ।
ब्रह्मस्थिति को सर्वथा, भोग रहे तत्काल ॥२॥
मैं आदर करूं ब्रह्मका, ब्रह्म रखे मेरा मान ।
नहीं निरादर कभी हो, स्वप्नमें भी अपमान ॥३॥
सादर अरु सप्रेम ही, करूं आवाहन ईश ।
अनिराकरण सदैव हो, हों प्रसन्न जगदीश ॥४॥
ब्रह्म निरादर न करे, करूं न मैं अपमान ।
अनिराकरण हो ब्रह्मका, रह जावे मेरा मान ॥५॥
उस आत्मामें वलझकर, भक्तमें हों गुण प्रकट ।
ब्राह्मि स्थिति पाये हुए, मैं हों जो सुव्यक्त ॥६॥
वही धर्म मुझमें बसें, कृपा करो भगवान् ।
निरत् हो आत्मोपनिषत् में, सदा हूं तद्गत् प्राण॥७॥
ओ३म् शान्तिः शुभशान्तिः, सर्वशान्तिः हो आप ।
कृपा यही मुझ पर करो, करो शान्त त्रयताप ॥८॥

माण्डूक्योपनिषत् ।

225

(कविता)

(कवि- श्री० छलिया रामजी कश्यप, एम्. एस्.सी.)

"ओ३म" यह अक्षर मात्र है, व्याख्या कुल संसार ।
हुआ, हो रहा, होगा जो, कुल व्याख्या ओ३म्कार ॥१॥
सभी दिखाई दे रहा, दीखे भी नहीं जो ।
तीनों कालोंसे परे, ओ३म्कार ही सो ॥२॥
यह तो सब कुछ ब्रह्म है, यह आत्मा भी ब्रह्म ।
चतुष्पाद यह आतमा, वही आत्मा ब्रह्म ॥३॥
जाग्रत् प्राणी की तरह, बुद्धि बाहर हो ।
स्थूल तत्त्वके भोगमें, लगी स्थूल भुग सो ॥४॥
सूर्य चान्द आंखें कहीं, कहीं, दिशाएं श्रोत्र ।
भूमिको पांओ किया, चहुं वेदोंको स्तोत्र ॥५॥
अन्तरिक्ष तो उदर है, द्यौः है मूर्धास्थान ।
वायु प्राणाऽपान है, सप्ताङ्ग यही जान ॥६॥
महद्व्यक्ताहङ्कृति, चौथा जी वसुजान ।
पञ्च प्राण दश भूत मिल, मुख उन्नीस पहिचान ॥७॥
मुख एकोनविंशति, सप्ताङ्ग शुभपाद ।
इनमें प्रज्ञा विचरती, वैश्वानर यह पाद ॥८॥
पहिले अनुभव यह करो, पहिला ब्रह्म उपदेश ।
तत्त्वज्ञान कक्षा प्रथम, ब्रह्म ऋषि सन्देश ॥९॥
पाद प्रथम वर्णन किया, वैश्वानर स्वरूप ।
नेता सारे विश्वका, इसी लिये तद्रूप ॥१०॥
सूक्ष्म नियन्ता स्थूलका, अन्तः प्रज्ञ सुजान ।
बुद्धि भीतर विचरती, भोग सूक्ष्म पहिचान ॥११॥
प्रज्ञा भीतर विचरती, स्वप्न अवस्था मांह ।
ऐसे तैजस विश्वके, मानों अन्दर छांह ॥१२॥
जैसे प्राणि स्वप्नमें, भोगे केवल विचार ।
ऐसे तैजस दशामें, ब्रह्म करें सुविचार ॥१३॥
तैजस आश्रित तेजके, जो उदान और अग ।
जीवेश्वर सम्बन्धमें, जानों मित्र सुपङ्ग ॥१४॥
भीतर शक्ति ज्ञानकी, करे विचार एकान्त ।
निरा अकेला ब्रह्म वह, बाहरसे शुभ शान्त ॥१५॥
जीव यथा स्वप्नस्थ हो, सुक प्रविविक्त कहाय ।
ब्रह्मात्मा तेजस्थ जब, पदवी वैसी पाय ॥१६॥
मुख उन्नीस प्रयुक्त कर, स्वप्न भोगता जीव ।
सातों अङ्गोंपर पडा, पर प्रभाव रहा दीख ॥१७॥
एवं सातों अङ्ग अरु, मुख उन्नीसयुक्त ।
अन्तःप्रज्ञ वह ब्रह्म भी, दीख रहा सुव्यक्त ॥१८॥
मुख उन्नीस वही यहां, अङ्ग विश्वके सात ।
जिनसे भोगे भोग वह सूक्ष्म विचार द्विपात ॥१९॥
नहीं करता कोई कामना, नहीं देखता स्वप्न ।
सोता ऐसी दशामें, कहा जाय सुस्वप्न ॥२०॥
सुषुप्ति कहते इसे, इसी अवस्था मांह ।
प्राज्ञ ब्रह्म वह ज्ञेय है, तैजस जिसकी छांह ॥२१॥
प्रज्ञा भेद उस प्राज्ञसे, वर्षे प्रज्ञाधार ।
तभी कहा प्रज्ञानघन, सर्वज्ञ सब सार ॥२२॥
एक हुआ आनन्दमय, भोगे सुख एकान्त ।
सुखके बल इक चेतता, आनन्द भुक् सुशान्त ॥२३॥
ईश सभीका है यही, ज्ञाता कुल ब्रह्मांड ।
भीतरसे नियमन करे, इसी रचा ब्रह्माण्ड ॥२४॥
कारण सबका है यही, यही सुजन्मस्थान ।
अप्राणीका उदय यह, अस्त प्राणिका जान ॥२५॥
बुद्धि बाहर नहीं गई, भीतर विचरेन ।
दिवास्वप्न भी नहीं हो, उभय प्रज्ञ तब न ॥२६॥
बुद्धि भेद नहीं उपजता, बुद्धिमान नहीं हीन ।
आत्मानुभव मात्र ही एक प्रपञ्च विहीन ॥२७॥
पञ्चाकरण सब शान्त हैं, उस अवस्था मांह ।
कल्याणमय शिव प्रभु आत्मामें दिव वांह ॥२८॥

चौथा पाद यही कहा, विज्ञेयात्मा रूप ।
विशेष जानता इसे जो, हुआ वही ब्रह्मरूप ॥२९॥
नहीं आता व्यवहारमें, दृष्टि गोचर न ।
पकडा जाय न हाथसे, चिह्नभी कोई न ॥३०॥
सोचा मनसे जाय न, कथन किया नहीं जाय ।
मन वाणीसे परे हो, हृदयमें रहा समाय ॥३१॥
चहुं पाद वर्णन हुए, कहे जो मुनि माण्डूक्य ।
ब्रह्मवेत्ताकी कृपासे, दर्शन होवे शुभैक्य ॥३२॥
ऐसा यही वह आत्मा, ओ३म अक्षर आधीन ।
मात्राऽधीन ओ३म्कार है, मात्रा पाद आधीन ॥३३॥
पाद मात्रा आधीन हैं, अ, उ, म, अमात्र ।
इन पद मात्रामें रमें, रहें सदा जगमित्र ॥३४॥
"अ" मात्रा जो प्रथम है, सो वैश्वानर पाद ।
जीता जागता ब्रह्म वह, नेता कुलसंसार ॥३५॥
प्राप्त करे सभी कामना, भक्ति करे आरम्भ ।
जो ध्यावे इस पादको, अ-मात्रा सानन्द ॥३६॥
आप्ति आदि अर्थसे, मात्रा चुनी अकार ।
वाचक जो शुभ विश्वकी, बनी भाग
ओ३म्कार ॥३७॥
मात्रा "उ" द्वितीय जो, वाचक तैजस पाद ।
विश्वज्ञान शक्ति स्वप्न, लें जब ब्रह्म द्विपाद ॥३८॥
"शुद्ध स[illegible]ा वह करे, उत्तम ज्ञान विचार ।
विषयमें सदा सर्वथा, मात्रा जाने उकार ॥३९॥
कुलमें इसके होवे न, जो जाने नहीं ब्रह्म ।
जो पावे वह पाद शुभ "उ" मात्रा सम्पन्न ॥४०॥
उत्कर्षोभय अर्थसे, मात्रा चुनी उकार ।
वाचक तैजस ब्रह्मकी, बनी भाग
ओ३म्कार ॥४१॥

"म" मात्रा शुभ तीसरी, वाचक प्राज्ञ सुशान्त ।
प्रज्ञाघन आनन्दमें सो रहे तैजस कान्त ॥४२॥
मिन डाले संसार सब, सबका बन आधार ।
आप्यय उद्भव सभीका, मात्रा ध्यावे मकार ॥४३॥
मिति अपीति अर्थसे, ली है मात्रा मकार ।
वाचक सानन्द प्राज्ञ हो, बनी भाग ओ३म्कार ॥४४॥
ध्यावे मात्रा प्रेमसे, प्राज्ञमें ले आनन्द ।
ब्रह्मभक्त लगा ध्यानमें, लूटे ब्रह्मानन्द ॥४५॥
नहीं आता व्यवहारमें, चौथा पाद सुशान्त ।
ओ३म् में मात्रा है नहीं, यही तत्व वेदान्त ॥४६॥
द्वित्व रहित यह सर्वथा, कल्याणमयशिव ।
पञ्चीकरणविहीन जो, उपशान्त सुस्थिर ॥४७॥
आत्मा यूं ओ३म्कार ही, है जो जाने भेद ।
आत्मा में प्रवेश कर, आत्मासे हरे खेद ॥४८॥

अथ शान्तिः ।

कानोंसे ओ३म्कार शुभ, सुख कल्याणमय भद्र ।
सुनें, देखें हम नेत्रसे, शुभ ओ३म्कार सुभद्र ॥१॥
यजनशील विद्वान् हम, देवोंकी करें सेव ।
परमदेव ओ३म्कारकी, श्रद्धा प्रेम सुसेव ॥२॥
गाते स्तुति ओ३म्कार की, स्थिर कर सारे अङ्ग ।
देहसे भोगें आयु शुभ, देव नियत सह उमङ्ग ॥३॥
पूषा जाने विश्व जो, इन्द्र बढा जिस यश ।
दे दुःखदायी धुरा जो, विश्वकर्म शुभ यश ॥४॥
बडोंका रक्षक वाणीका, भी जो पति सुमहान ।
बृहस्पति महाराज वह, देवें हमें कल्याण ॥५॥
अधिदैविक अधिआत्मिक, अधिभौतिक हे कान्त ।
त्रिविध ताप अरु घोर दुःख, कृपया कीजिये शान्त ॥६॥

'उपनिषत्-कथामाला'

65

[लेखक- श्री० ना० वा० गुणाजी, बेलगाव.]

(१) एकाक्षरी मंत्र,--द्, द्, द् ।

प्रजापति के तीन अपत्य,— देव, मनुष्य और असुर, अपने पिता के पास विद्याभ्यास करने को रहे थे; और ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए उसकी सेवा करने लगे। इस तरह कुछ समयतक ब्रह्मचर्य व्रत से रहकर पहिले देवों ने प्रजापति से प्रार्थना की- " महाराज, हमें उपदेश करो। " इसपर प्रजापति ने 'द्' इस एकाक्षरी मंत्रका उपदेश उन्हें किया और पूछा- 'इस मंत्र का अर्थ तुम्हारे ध्यानमें आया न? विलासी देवोंने विचार करके उत्तर दिया- " जी हां; द (दाम्यत) अर्थात् दमन (इंद्रियनिग्रह) करो। यही उपदेश आपने हमको किया। " तब प्रजापति बोले " हां, तुम इसका अर्थ ठीक समझ गए। अब चलो, इस व्रत को, इस अर्थ को, आचरण में लाओ। "

इसके पश्चात् मनु ने प्रजापति से प्रार्थना की- " महाराज, हमें कुछ उपदेश कीजिये। " प्रजापति ने उनको भी 'द्' इस एकाक्षरी मंत्र का उपदेश किया, और पूछा 'इस मंत्र का अर्थ तुम समझ गए न?' लोभी मनुष्यों ने विचार करके उत्तर दिया,- 'आपने हमको यह आदेश किया, कि 'द्' (दत्त) अर्थात् दान करो।' तब प्रजापति बोले, 'हां, इसका अर्थ तुम ठीक समझे हो, इसके अनुसार तुम सदैव वर्ताव करो।'

कुछ समय के बाद असुर भी प्रजापति के पास जाकर प्रार्थना करने लगे, 'महाराज हमें कुछ उपदेश दीजिये।' प्रजापति ने उनको भी 'द्' इस एकाक्षरी मंत्र का उपदेश दिया, और पूछा 'इसका अर्थ तुम्हारे ध्यान में आया न?' तब हिंसक राक्षसों ने विचार करके उत्तर दिया, 'आप ने हमको यह उपदेश किया, कि 'द्' (दयध्वम्) अर्थात् दया करो।' इसपर प्रजापति बोले, 'हां, बिलकुल ठीक है। तुम्हें इसका अर्थ समझ गया। अब तुम इसके अनुसार आचरण करो।'

अब भी प्रतिवर्ष 'द द द' ऐसी गर्जना के द्वारा, मेघरूपी आकाशवाणी प्रजापतिके प्राचीन और सनातन उपदेश का जोरसे ऐसा अनुवाद करती है, कि-'हे देव, हे मानव, हे असुर-सात्विक, राजस और तामस जीवगण, दमन करो, दान करो और दया करो। दमन, दान और दया इन तीन सद्गुणों का अभ्यास करो, अपने आचरण में ये गुण लाओ; इससे तुम्हारा अपरिमित कल्याण होगा,-' (बृहदारण्यकोपनिषद्. अ० ५।२)

(२) किमिदं यक्षम् ?

प्राचीन काल में, जब देव और दानवों में युद्ध हो रहा था, ब्रह्म ने जगत्-शत्रु असुरों का पराभव करके देवों को विजय प्राप्त कर दिया। इससे देवों की महिमा बढ गई और लोग उनकी पूजा करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ, कि उनका अभिमान बढने लगा, और वे समझने लगे कि हमने ही विजय संपादन किया है, यह हमारा ही महिमा है। सब के अंतर्याम में निवास करने-

66

ने ब्रह्म को इसका शीघ्र पता लग गया। ब्रह्म ने विचार किया, कि दानवों के समान देव भी मिथ्याभिमान के वश में आवेंगे, तो उनका नाश होगा; विजय प्राप्त होने से नम्रता और विनय आना चाहिये। यह सोचकर ब्रह्म ने देवों का अभिमान दूर करने के हेतु एक अद्भूत और आश्चर्यकारक ऐसा (यक्ष का) रूप धारण किया और देवोंके सम्मुख वह प्रगट हुआ। देव ... होकर भी यह न पहचान सके, कि ... त कौन है। देवोंने अग्निको कहा ... द, तुम पहचानकर बतलाओ, कि यह यक्ष क्या है।' अग्नि ने कहा 'ठीक है, मैं यह करता हूं।' ऐसा कहकर यक्ष के पास अग्नि गया। यक्ष ने पूछा 'आप कौन हैं?'

अग्नि ने कहा 'मै अग्नि हूं। मुझे जातवेदस् भी कहते हैं।'

यक्ष- यह ठीक है,परंतु तुममें क्या पराक्रम है?

अग्नि- इस पृथ्वीपर जो कुछ है, वह सब जलाकर मैं भस्म कर देता हूं।

यह सुनकर यक्ष ने एक घासका तिनका उसके सामने रखा और कहा- 'इसको जलाओ, देखें।' बडे वेगसे अग्नि उस तिनके के पास दौडा, परंतु उसको जला न सका, उसके सब प्रयत्न निष्फल हुए। तब वह लज्जित होकर वापिस गया, और देवों से कहा 'मैं नहीं जान सकता यह यक्ष क्या बात है।' इसके बाद देवों ने इस कामपर वायु- योजना की। वायु ने इस काम का स्वीकार किया और वह यक्ष के पास आया।

यक्ष- आप कौन हैं?

वायु- मैं वायु हूं। मुझे मातरिश्वन् भी कहते हैं।

यक्ष- ठीक; ऐसे तुम में क्या बल है?

वायु- इस पृथ्वी में जो कुछ है, मैं वह सब उडा सकता हूं।

यह सुनकर वही घास का तिनका यक्ष ने उस के आगे रखा और कहा- 'इस तिनके को उडा दो, देखें।' बडे वेगसे वायु उस तिनके के पास दौड कर गया, परंतु उसको उडा न सका। तब वह भी लज्जित होकर वापिस गया और उसने देवों से कहा 'मैं नहीं जान सकता यह यक्ष क्या बात है।'

इसके बाद देवों ने इंद्रकी योजना की और कहा, 'हे मघवन्, आप पहचानिये, कि यह यक्ष कौन है।' इंद्रने यह कबूल किया, और शीघ्र ही वह यक्ष के तरफ जानेको निकला। इंद्र वहांतक पहुंचता न पहुंचता इतने में वह यक्ष अदृश्य हो गया। परंतु इंद्र ने हिंमत नहीं छोडी। जैसा कि अग्नि ने और वायु ने किया था; इंद्र वापिस नहीं लौटा। जिस जगह यक्ष अंतर्धान पाया था, उस जगह इंद्र ध्यानस्थ होकर विचार करने लगा। उस जगह एक हैमवती (सुवर्णालंकृत) और बहुत शोभिवन्त स्त्री- उमा (ब्रह्मविद्या) प्रगट हुई। उसको देखकर इंद्र ने पूछा 'यक्ष कौन है?' उमाने कहा, 'यक्ष सुप्रसिद्ध ब्रह्म है- इसी ने असुरों का पराजय करके देवों को विजय प्राप्त कराया, और इसीसे देवोंका महिमा बढ गया।' इसीतरह इंद्रको ज्ञान हुआ कि यक्ष ब्रह्म है; और यही ज्ञान उसने अग्नि, वायु आदि देवों को बतलाया। इसी कारण अग्नि, वायु, और इंद्र ब्रह्मके समीप आये और प्रथमतः अब ब्रह्म को जान सके और इसीलिये वे सब देवों में श्रेष्ठ हुए। सबसे पहिले इंद्रने ब्रह्म को पहिचाना, इसलिये सब देवों में वह श्रेष्ठ ठहरा।

उपनिषद् का उपदेश करने की प्रार्थना तुमने की इसलिये, हमने तुम्हें ब्राह्मी उपनिषद्- ब्रह्मविद्या बतलाई। इसका आधार तप, दम और कर्म है। वेद उसके अंग हैं, और सत्य उसका आयतन अर्थात् स्थान है। [केन उप० ३-४]

(मनन)

इस कथा के विषय में अब हम अध्यात्मदृष्टया थोडा विचार करें। बाह्य सृष्टि में जो अग्नि है, वह हमारे शरीर में वाणी - वाक् शक्ति है। 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐतरेय उपनिषद् १-४)

अर्थात् अग्निने वाक् होकर मुखमें प्रवेश किया।' यही सूचना देने के हेतु अग्नि का दूसरा पर्यायवाचक शब्द 'जातवेदा' यहां दिया गया है। जिसके योगसे वेद हुए, शब्द सृष्टि हुई, वह वाग्देवी है। अग्निदेव ब्रह्म को नहीं जान सके, उन्हें अपनी शक्तिसे तृण को भी जलाने का सामर्थ्य न था, इसलिये अग्निदेव ब्रह्मशक्ति के आगे पराभूत होकर वापिस लौटे। इसी तरह हमारे शरीरान्तर्गत आग्नेय वाणी भी आत्माका वर्णन नहीं कर सकती और उसको जान नहीं सकती। वह आत्मसंमुख होते ही कुंठित होकर वापिस लौटती है। इसलिये इसी केन उपनिषद् के तीसरे मंत्र में कहा है, कि 'न तत्र वाग् गच्छति' वहां वाणी नहीं जाती, और ४ थे मंत्र में कहा है, कि 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते'— वाणी से जो प्रकाशित नहीं होता, परंतु जिसके कारण से वाणी प्रकाशित होती है, इत्यादि। इस प्रकार वाग्देवी (तथा-शब्द-रूप वेद अथवा श्रुति) ब्रह्म का अथवा आत्मा का यथार्थ और पूर्ण रीति से वर्णन कर नहीं सकती।

इसी तरह बाह्य सृष्टिमें जो वायु है, वह हमारे शरीर में प्राण होकर रहा है। 'वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्-' (ऐतरेय उप०१-४) वायु प्राण होकर हमारे नासिकामें प्रविष्ट हुआ। बाह्य जगत्में जैसे वायुदेव को ब्रह्म का ज्ञान नहीं हुआ, वैसे ही हमारे शरीरमें प्राणको भी आत्माका ज्ञान नहीं होता 'या प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते' (मंत्र७)— जो प्राण से जीवित नहीं रहता, किंतु जिसके योग से प्राण चल सकता है, वह ब्रह्म है। और इसी उपनिषद्में कहा है, कि यह ब्रह्म 'प्राणस्य प्राणः (मंत्र २)– प्राण का भी प्राण है। इसलिये वायु में अथवा प्राण में बहुत शक्ति रहे, तथापि ब्रह्म के आगे अथवा आत्मा के आगे उनका कुछ नहीं चलता, और इन्हें ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता।

अब इंद्र के संबंधमें विचार करें। बाह्य सृष्टिमें जैसे अग्नि, वायु आदि देवोंका अधिपति इंद्र है, वैसे ही हमारे शरीर में प्राण इत्यादि का अध्यक्ष मन है। जैसे इंद्र को ब्रह्म का ज्ञान नहीं हुआ, वैसे ही 'न तत्र नो मनो गच्छति' (मंत्र ३)- मन भी वहां नहीं जा सकता, अर्थात् मनको आत्माका ज्ञान नहीं होता, 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्' (मंत्र ५)- अर्थात् ब्रह्म ऐसा है, कि जो मनसे मनन नहीं करता, किंतु जिसके योगसे मन मनन करता है- ऐसा इसी उपनिषद्में बतलाया है। सकल देवोंमें जैसा इंद्र श्रेष्ठ है, वैसा सकल इंद्रियोंमें मन श्रेष्ठ है। अन्य देवों की अपेक्षा इंद्र को जैसे ब्रह्म का ज्ञान पहिले पहल और अधिक हुआ, वैसे ही अन्य इंद्रियों की अपेक्षा मन को भी आत्मा का ज्ञान अधिक होगा; परंतु जैसे इंद्र उमा की शरण में गया, वैसे मन को भी उमा की शरण में जाना चाहिये। यह उमा कौन है? बाह्य सृष्टि में उमा का अर्थ है, हिमवान् पर्वत की (हैमवती) पुत्री पार्वती। हमारे शरीर में पर्वत है पृष्ठवंश अथवा मेरुदंड। इसके मूल में रहनेवाली कुंडलिनी शक्ति आत्मप्राप्ति के हेतु उसी प्रकार तप करती है, जैसे कि शिव की प्राप्तिके लिये पार्वतीने तप किया। इन्द्रको जैसे उमाकी शरणमें जाना पड़ा, उसी तरह आत्म-प्राप्ति के लिये मनको कुंडलिनी शक्तिकी शरण जाना चाहिये, और उसकी सहायता लेनी चाहिये, तब हमें आत्मज्ञान की प्राप्ति होगी-

इस संपूर्ण कथाका और बोधका सार अथवा तात्पर्य तुकारामने एक अभंगमें दिया है, वह इस तरह है-

चालें हें शरीर कोणाचिये सत्ते।
कोण बोलविते हरीविण॥
देखवी ऐकवी एक नारायण।
त्यांचें भजन चुको नका॥
मानसाची देव चालवी अहंता।
मीचि एक कर्ता म्हणूनिया॥
वृक्षाचें ही पान हाले त्याची सत्ता।
राहिली अहंता मग कोठें॥
तुका म्हणे विठो भरला सबाह्य।
उणें काय आहे चराचरीं॥

भावार्थ- यह शरीर किसकी सत्तासे चलता है? सिवाय हरिके कौन बुलाता है? एक नारायण हमसे देखनेका तथा सुननेका कार्य कराता है, चाहे उसका भजन न किया जाय। मैं ही एक कर्ता हूं, ऐसी मनकी अहंता ईश्वर चलाता है। वृक्षका पत्ता भी उसीकी सत्तासे हिलता है, तब अहंता रही कहां? तुकाराम कहते हैं, ईश्वर अंतर्बाह्य भरा है, इस चराचरमें ऐसा क्या है जिसमें वह नहीं ?

(३) सत्यकाम जाबाल।

जबाला नामक एक स्त्री थी। उसके पुत्रका नाम सत्यकाम था। एक दिन वह अपनी मातासे कहने लगा "हे माता! गुरुगृहमें जाकर ब्रह्मचर्यव्रतसे रहकर मैं वेदाभ्यास-विद्याभ्यास-करना चाहता हूं, मेरा गोत्र क्या है?" जबालाने उत्तर किया "बेटा! मुझे तुम्हारा गोत्र मालूम नहीं। मैं युवावस्थामें अनेक जगह दासीका काम करती फिरती थी; उस समय तुम मुझे प्राप्त हुए। मैं तुम्हारा गोत्र नहीं जानती। मेरा नाम जबाला और तुम्हारा नाम सत्यकाम है। तुम अपनेको सत्यकाम जाबाल बतलाओ।"

इसके बाद वह हारिद्रुमत गौतमके पास गया और कहने लगा, "हे भगवन्! ब्रह्मचर्य व्रतसे रहकर आपके पास अध्ययन करनेकी इच्छासे मैं आपके पास आया हूं।" गौतमने पूछा "बेटा! तुम्हारा गोत्र क्या है?" उसने उत्तर दिया "मुझे मालूम नहीं, कि मेरा गोत्र क्या है। मैंने इस विषयमें अपनी मातासे पूछा था, उसने कहा "मुझे तुम्हारा गोत्र मालूम नहीं। मैं युवावस्था में जब दासी थी, तब कामके लिये अनेक जगह फिरती हुई मुझे तुम्हारा लाभ हुआ; मैं नहीं जानती कि तुम्हारा गोत्र कौनसा है। मेरा नाम जबाला और तुम्हारा नाम सत्यकाम।" इसलिये मेरा नाम सत्यकाम जाबाल है।"

सत्यकाम का यह सत्य और सरल भाषण सुनकर गौतमने कहा, "ब्राह्मणके अतिरिक्त ऐसा कोई न बोलेगा; तुम सत्यसे च्युत नहीं हुए, इस [illegible] ब्राह्मण ही हो। उठो बेटा! समिधा लाओ, मैं तुम्हारा उपनयन करता हूं।"

उसका उपनयन करके (और उससे अध्ययन कराके) गोशालामें से चार सौ कृश अशक्त गाएं लाकर गौतमने कहा, "बेटा! इन गौओंको [illegible] वनमें लेजाओ!" उनको वनमें लेजाने के समय सत्यकाम बोला "जबतक इन गौओंकी संख्या एक हजार न होगी, तबतक मैं वापिस न आऊंगा।" इसके बाद उन गौओंकी संख्या एक हजार होने तक वह जंगलमें गौओंके साथ कुछ वर्षतक रहा।

गायोंके उस समुदायमें मुख्य (जिसमें वा[illegible] देवताने संचार किया था वह) ऋषभ (बैल) बोला, "हे सत्यकाम! हम अब सहस्र हो गए। हमें अब आचार्यके घर ले चलो।" ऐसा कह[illegible] उसने उसको ब्रह्मके एक पादका-चतुर्थांशका [illegible] प्रकाशवान् पादका, उपदेश किया। मार्गमें अ[illegible] ने दूसरे चतुर्थांश का, अनन्तवान् नामक पादका उपदेश किया; हंसने तीसरे चतुर्थांश का, ज्योतिष्मान् नामक पादका, उपदेश किया, और मद्गूने चौथे चतुर्थांश का, आयतन नामक पादका उपदेश किया। इस प्रकार मार्गमें ज्ञान संपादन करते करते सत्यकाम आचार्यके घर आ पहुंचा। उस समय उसका मुख ब्रह्मवेत्ताके समान तेजस्वी, मधुर, चिंतारहित और निर्भय दिखता था। यह देखकर गुरुजीने बडे प्रेमसे उसको पूछा, "हे बालक सत्यकाम! तुम ब्रह्मवेत्ताके सदृश दिखते हो, मुझे बतलाओ, कि तुमको किसने उपदेश किया?" सत्यकामने कहा "भगवन्! मनुष्योंसे

वैसे ही हमारे शरीर में प्राण इत्यादि का अध्यक्ष उण काय और चराचर॥

भिन्न ऐसे देवतादिकने मुझे उपदेश किया; परंतु मेरी इच्छा है, कि आपही मुझे उपदेश कर के मुझे ज्ञान दें। क्यों कि 'आचार्य से प्राप्त की हुई विद्या कल्याणकारक होती है और इच्छित फल देती है" ऐसा मैंने आपके समान श्रेष्ठ पुरुषों से सुना है।" शिष्यका यह विनययुक्त भाषण सुनकर गुरुजी प्रसन्न हुए और बोले, "तुमने जो (षोडशकलात्मक ब्रह्मका) ज्ञान प्राप्त किया है, उससे अधिक ज्ञान कुछ बाकी नहीं रहा। तुमने पूर्ण ब्रह्मज्ञान जान लिया, तुम्हारा कल्याण होवे।

(छां० उ० ४।४।१)

(४) उपकोसल कामलायन।

उपकोसल कामलायन नामक एक शिष्य सत्यकाम जाबालके घरमें ब्रह्मचर्यव्रत से रहकर अध्ययन करता था। उसने बारह वर्षतक अपने गुरुके गृहमें अग्निकी सेवा की। इसके बाद सत्यकामने बाकी सब ब्रह्मचारियोंका समावर्तन विधि करके उन्हें अपने अपने घरको बिदा किया, परंतु उपकोसल को नहीं भेजा। यह देखकर आचार्यपत्नि ने अपने पतिसे कहा, कि इस ब्रह्मचारी विद्यार्थीने अच्छा तप करके हमारे अग्निकी सेवा अच्छी तरह की है। आप इसका भी समावर्तन कीजिये, अन्यथा अग्नि आपकी निंदा करेंगे। इसलिये इसको ब्रह्मज्ञान का अच्छा उपदेश करके विदा कीजिये। इसका कोई जबाव न देकर सत्यकाम ग्रामांतर को चला गया।

उपकोसल को बहुत मानसिक दुःख हुआ; वह अन्नत्याग करने लगा। यह देखकर आचार्यपत्निने उसको कहा 'हे ब्रह्मचारिन्! तुम कुछ अन्नका सेवन करो। तुम उपवास क्यों करते हो?' उसने कहा, मुझे अनेक कामनाओंने तथा व्याधियोंने व्याप्त कर ग्रसित करलिया है, इसलिये मैं कुछ खाता नहीं।' उसका यह निग्रह देखकर अग्निदेवताओंने आपस में विचार किया, कि इसने हमारी सेवा बहुत अच्छी तरह की है; इसलिये हम इसको विद्याप्रदान करें। इस प्रकार निर्णय करके वे अग्निदेव उसके सामने प्रगट हुए, और उन्होंने यह उपदेश किया-'प्राण ब्रह्म है, कं (सुख) ब्रह्म है, खं (आकाश) ब्रह्म है।' तदनंतर गार्हपत्य अग्निने उसको कहा 'पृथ्वी, अग्नि, अन्न और आदित्य मेरी तनु हैं; यह जो आदित्य में पुरुष दिखता है, वह मैं हूं।' अन्वाहार्यपचन अग्निने कहा 'आप, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा मेरी तनु हैं; चंद्र में जो यह पुरुष दिखता है, वह मैं हूं।' आहवनीय अग्निने कहा 'प्राण, आकाश, द्यौ और विद्युत् मेरी तनु हैं; विद्युत् में जो पुरुष है, वह मैं हूं।' इस प्रकार त्रिविध उपासना करनेवालों को पापों का नाश, अग्निलोकप्राप्ति, पूर्ण आयुष्य, उज्ज्वल जीवन, वंशक्षय न होना (कुलरक्षण), इहपरलोकमें अग्निद्वारा संरक्षण, इत्यादि फल प्राप्त होते हैं। ऐसा कहकर अग्नि बोले 'हमने यह अपनी विद्या-आत्मविद्या-तुमको बतला दी। इसके आगे गति अर्थात् मार्ग तुम्हें आचार्य बतलाएंगे।'

कुछ समयके पश्चात् सत्यकाम घरको वापिस आये, और उपकोसल को देखकर बोले "बेटा! तुम्हारा मुख ब्रह्मवेत्ताके मुखसरीखा दिखता है। तुमको किसने ज्ञान बतलाया?' उपकोसल ने डरते डरते जबाब दिया— 'अग्निने।' सत्यकामने पूछा 'क्या उपदेश दिया?' तब उपकोसलने वह ज्ञान निवेदन किया जो अग्निने बतलाया था। सत्यकाम बोले 'उन्होंने तुमको लोकोंका ज्ञान बतलाया; संपूर्ण ब्रह्मज्ञान नहीं बतलाया; ब्रह्म मैं तुम्हें बतलाता हूं।' ऐसा कहकर सत्यकामने उसको उपदेश किया, कि यह जो तुम्हें नेत्रमें पुरुष दिखता है, वह आत्मा है। वही आत्मतत्त्व अमृत, अभय ब्रह्म है। इसीको 'संयद्वाम' कहते

है, क्यों कि इसमें समस्त शोभन वस्तु एकत्र होती हैं। यही 'वामनी' अर्थात् सकल पुण्य-कर्मोंके फल देनेवाला है, और 'भामनी' अर्थात् संपूर्ण लोकोंमें भासमान होनेवाला, प्रकाश करनेवाला है। जो यह जानता है, वह सकल लोकोंमें प्रकाशमान होता है, और क्रमक्रमसे देवपथ को ब्रह्मपथ को, पहुंचता है और पुनर्जन्म से मुक्त होता है। 'इत्यादि- (छां० उ० ४।१०-१५)

इस प्रकार उपकोसल को उपदेश करके और उसका समावर्तनविधि करके उसको अपने घर भेजा।

(५) उषस्तिश्चाक्रायणः।

एक समय कुरुदेश में ओलों की वृष्टिके कारण फसल का बहुत नुकसान हुआ: और अकाल पडने के कारण चक्रका पुत्र(चाक्रायण) उपस्ति अपनी तरुण पत्नी के साथ अन्नकी तलाशमें घूमता हुआ एक बडे ग्राम में आ पहुंचा। वहां एक सुखी मनुष्य यवादि धान्य खा रहा था, उससे चाक्रायण ने धान्य की भिक्षा मांगी। उस मनुष्यने कहा " अब मेरे पास इसके सिवाय और कुछ नहीं है; जो कुछ था, वह सब अपने पात्र में मैंने ले लिया है। " चाक्रायण उषस्ति ने कहा " इसी में से मुझे कुछ दे दो। " उस मनुष्यने उसमें से कुछ धान्य दिया और कहा "यदि तुम यह धान्य खाते हो, तो मेरे बर्तन में से कुछ पानी भी पीने को ले लो।" उपस्ति बोला, " मैं वह पानी लेलूं, तो मैं उच्छिष्ट पानी पीनेवाला होऊंगा।" इसपर वह मनुष्य बोला, " वैसा है, तो क्या यह धान्य उच्छिष्ट नहीं है ? " उपस्तिने कहा 'मैं यह धान्य न खाता, तो मैं जीवित नहीं रहता। पानीकी बात वैसी नहीं है। वह चाहे उतना मिलता है।'

उषस्ति ने उसमेंसे कुछ धान्य खाकर कुछ अपनी पत्निको लाकर दिया। परंतु पत्निको पहिलेही अच्छी सी भिक्षा मिलगई थी; उसने पतिसे वह भाग लेकर वैसाही रख दिया। दूसरे दिन सुबह उपस्तिने, अपनी पत्निसे कहा, "हमें थोडासा अन्न मिल जाय, तो कुछ धन भी मिलनेका मौका है। क्यों कि इस देश का राजा एक यज्ञ कर रहा है। मैं वहां जाऊंगा, तो मुझे उस यज्ञके ऋत्विज का काम मिलेगा।" पत्नि ने कहा " यदि ऐसा है, तो कल जो धान्य आप लाये थे, वह वैसा ही रखा है, आप वह खाइये। " वह धान्य खाकर उपस्ति यज्ञके स्थानपर गया, और वहांके प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता इत्यादि ऋत्विजों से कहने लगा " प्रस्ताव, उद्गीथ और प्रतिहार विषयक देवताओं को बिना जाने यदि तुम स्तवन करोगे, तो तुम्हारे मस्तक गिर पडेंगे। " यह सुनकर वे सब ठहर गये, उन्होंने सब कार्य स्थगित कर दिया। तब यजमान (राजा) ने कहा " मैं जानना चाहता हूं कि आप कौन हैं। " उपस्तिने अपना नाम बतलाया। राजाने कहा- "इस यज्ञ के संपूर्ण कर्मके लिये मैंने आपही की योजना की थी; परंतु आप का पता न लगनेसे मुझे इन लोगों की योजना करनी पडी। अस्तु। अब आप आ गए हैं; आपकी देखरेख में अब यज्ञ का काम चलाया जावे।' उपस्तिने वह कबूल किया, और यज्ञ का काम आगे चलाने को ऋत्विजोंसे कहा। राजा से उसने कहा, कि इन लोगों को तुम जितना धन देओगे, उतना मुझेभी देना। राजाने वह कबूल किया। यह व्यवस्था प्रस्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता को भी पसंद हुई। उन्होंने शिष्यभाव रखकर उपस्ति से अपने अपने देवता, प्राण, आदित्य और मनके विषयमें ज्ञान संपादन किया, और यज्ञ का काम यथासांग पूरा किया। (छां० १।१०)

(६) प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ।

७।

वास्तव में प्राण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है ।

ज्येष्ठ को तथा श्रेष्ठ को जो जानता है, वह स्वयं ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। जो वसिष्ठ (धनवान्) को जानता है, वह स्वजातीयों में वसिष्ठ होता है। वाणी ही वसिष्ठ है। जो प्रतिष्ठा को जानता है, वह इह पर लोक में प्रतिष्ठा पाता है। चक्षु ही प्रतिष्ठा है। जो संपत्ति को जानता है, उसको दैवी तथा मानुषी समस्त कामों की प्राप्ति होती है। श्रोत्र ही संपत्ति है। जो आयतन (आश्रयस्थान) को जानता है, वह स्वजनों का आश्रयस्थान होता है। मन ही आयतन है।

एक समय वाक् इत्यादि प्राण-इंद्रियां आपस में लडने लगीं, यह कहकर कि 'मैं ही श्रेष्ठ हूं, मैं हि श्रेष्ठ हूं।" वे सब अपने पिता प्रजापति के पास जाकर कहने लगीं "हे भगवन्! हम में श्रेष्ठ कौन है? आप बतलाइये।" प्रजापती ने जवाब दिया, कि 'तुम में वही श्रेष्ठ है, कि जिसके जानेसे यह शरीर अत्यंत पापिष्ठ अर्थात् शवके समान अमंगल दिखेगा।" प्रथमतः वाणी निकल गई, और एक वर्षतक बाहर रहकर वापिस आई। वह अन्य इंद्रियों से कहने लगी "मेरे विना तुम कैसे जीवित रह सकीं?" उन्होंने जवाब दिया, "जैसे गूंगा आदमी बोलता नहीं है, परंतु वह प्राण से श्वास लेता है, चक्षुओं से देखता है, कानों से सुनता है और मनसे ध्यान करता है: इसी तरह हम भी रही आई" इतना सुननेपर वाणी के गर्व का परिहार हुआ और वह शरीर में वापिस गई। इसके उपरांत चक्षु निकल गए, और एक वर्षतक बाहर रहकर वापिस आए और कहने लगे- "मेरे विना तुम कैसे रहीं?" अन्य इंद्रियों नें जवाब दिया- "अंधे आदमी को दिखता नहीं; तथापि वह प्राणसे श्वास लेता है, वाणीसे बोलता है, कानोंसे सुनता है और मनसे ध्यान करता है। इसी तरह हम भी रही आई।" इतना सुननेपर चक्षुओं के गर्व का परिहार हुआ और वे शरीर में वापिस आए। तदनंतर (श्रोत्र) कर्णेन्द्रियां निकल गईं और एक वर्षतक बाहर रहकर वापिस आईं और पूछने लगीं "मेरे विना तुम कैसे जीवित रह सकीं?" अन्य इंद्रियोंने जवाब दिया "बहिरा आदमी सुन नहीं सकता; तथापि वह प्राण से श्वास लेता है, वाणीसे बोलता है, चक्षुओं से देखता है और मन से ध्यान करता है, इसी तरह हमभी रही आई।" यह सुननेपर श्रोत्रों के गर्व का परिहार हुआ, और उन्होंने फिरसे शरीर में प्रवेश किया। तदनंतर मन निकल गया और एक वर्षतक बाहर रहकर वापिस आया और पूछने लगा 'मेरे विना तुम किस प्रकार जीवित रहीं?" उन्होंने जवाब दिया 'बालक के मनकी बाढ नहीं होती, तथापि वह प्राणसे श्वास लेता है, वाणीसे बोलता है, चक्षुओंसे देखता है और कानोंसे सुनता है: इसी तरह हम भी रही आई।' यह सुननेपर मनके गर्वका परिहार हुआ और वह फिरसे शरीरमें प्रविष्ट हुआ। इसके उपरान्त प्राण निकलने लगे, त्यों ही अन्य इंद्रियोंकी वही अवस्था हुई जैसे कि उमदा घोडा अपने पाद-बंधनोंकी मेखें उखाडता तब होती है। तब उन सब इन्द्रियोंने प्रार्थना की 'हे भगवन्! तुमही हमारे स्वामी हो; हममें तुम ही श्रेष्ठ हो, तुम बाहर मत जावो। वाणी बोली 'मैं जो वसिष्ठ (धनवान्) हूं, वह वसिष्ठ तुम ही हो।' चक्षु बोले 'हम जो प्रतिष्ठा हैं, वह प्रतिष्ठा तुम ही हो।' श्रोत्र बोले हम जो संपद् हैं, वह संपद्

धन भी मिलनेका मौका है। क्यों कि इस देश का राजा एक यज्ञ कर रहा है। मैं वहां जाऊंगा, तो

यज्ञ का काम यथासांग पूरा किया। (छां० १।१०)

तुम ही हो।' मन बोला 'मैं जो आयतन हूं, वह आयतन तुम ही हो।' संपूर्ण इंद्रियोंको वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन कोई नहीं कहता; किंतु इन सबको प्राण ही कहते हैं।

उन इंद्रियोंसे प्राणने पूछा 'मेरा अन्न कौनसा है?' उन्होंने कहा 'कुत्ते, पक्षियोंसहित सब प्राणियोंका जो अन्न है, वही अनका अर्थात् प्राण का अन्न है। अन प्राणका प्रत्यक्ष अन्न है। इस तरह प्राणकी उपासना करनेवालेको सब अन्न मिलेगा।' प्राणने फिर पूछा, 'मेरा वस्त्र कौनसा?" उन्होंने जवाब दिया 'उदक।' इसलिये भोजनके पहिले और पश्चात् उदकसे प्राणका परिधान करते हैं। जो यह जानता है, वह वस्त्रोंसे परिपूर्ण होता है। (वह कभी वस्त्रहीन नहीं रहता।) यह प्राण-दर्शन (प्राणका ज्ञान) सत्यकाम जाबालने वैयाघ्रपद्य गोश्रुतिको बतलाया और कहा 'यह ज्ञान यद्यपि किसी शुष्क (सूखे हुए) खंभेको बतलाया जाय, तो उसको भी शाखाएं फूटेंगी और वह पल्लवित होगा।' (छां० उ० ५।१-२)

(मनन)

यह कथा छांदाग्योपनिषद् खंड ५ अध्याय १।२ में वर्णित है। यही कथा थोडेबहुत फरकसे प्रश्नोपनिषद्में तथा कौषीतकि उपनिषद्में आई है। ये थोडेसे फरक भी महत्त्वपूर्ण हैं, इसलिये उनके विषयमें कुछ कहना इष्ट है। प्रश्नोपनिषद्की कथामें प्राणसे अन्य इंद्रियोंका जो कलह हुआ था, उसमें अन्य इंद्रियोंके साथ पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश, इन पंचमहाभूतोंने भी भाग लिया था, और अभिमानपूर्वक उन सबने यह भी कहा है, कि 'हम बाण (शरीर) का संयोजन करते हैं और धारण करते हैं।' प्राण शरीरसे बाहर जाने लगा, तब अन्य इंद्रियां जलदीसे बाहर होने लगीं; इस बातको मधुमक्षिकाओंके राजा (रानी) की उपमा देकर विशद किया है। मधुमखियां, ज्यों ही अपना राजा (रानी) बाहर जाने लगता है, त्योंही उसके पीछे पीछे सब उसके साथ बाहर जाती हैं; जहां वह ठहर गया वहीं वे सब ठहर जाती हैं; वैसा ही यह प्रकार है-ऐसा वर्णन किया है,और वह पूर्ण समर्पक है। इसी तरह छांदोग्योपनिषद् की कथाके अनुसार, अंतमें प्राण की स्तुति करते समय ऐसी प्रार्थना की है, कि "हे प्राण! तू अग्नि, सूर्य, पर्जन्य, इन्द्र, रुद्र, इत्यादि है। तू देश के बाहर मत जा।"

कौषीतकि उपनिषद् में प्राण की महती इससे भी विशेष रीति से वर्णित है। "आयुः प्राणः। प्राणो वा आयुः। प्राण एवामृतम्। "आयुष्य ही प्राण है, प्राण ही आयुष्य है, प्राणही अमृतत्त्व है [क्योंकि जबतक प्राण इस शरीर में रहता है तभीतक आयुष्य रहता है] (३-२) इसके आगे यह वर्णन है, कि "यो वै प्राणः सा प्रज्ञा, या वै प्रज्ञा स वै प्राणः।" [जो प्राण है, वही प्रज्ञा है, जो प्रज्ञा है, वही प्राण है] और अंत में इस उपनिषत्कार ने ऐसा निष्कर्ष निकाला है; कि "स म आत्मेति विद्यात् स म आत्मेति विद्यात्।" वही मेरा आत्मा ऐसा जानना चाहिये।"

[७] सयुग्वा (गाडेवाला) रैक्क।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्। परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥ (तै: उ: २।१-१)

अर्थ- ब्रह्म सत्य है, ज्ञान है और अनंत है; और वह परम (सूक्ष्म) आकाशमें-बुद्धिरूपी गुहा में स्थित है। ऐसा जो जानता है, वह सर्वज्ञस्वरूप ब्रह्म के साथ (ब्रह्मरूप होकर) सकल कामनाओंका एकसाथ उपभोग लेता है।

पूर्वकाल में जानश्रुति पौत्रायण [जनश्रुति के पुत्र का नाती] नामक एक राजा था। वह श्रद्धा-पूर्वक बहुतसा दान देता था, और उसके घरमें अतिथियों के लिये बहुतसा अन्न रोज बनाया

जाता था। इसके अतिरिक्त उस राजाने गांव गांव में अनेक अन्नसत्र बनवाकर जारी रखे थे, हेतु यह कि लोग अपना अन्न भक्षण करें।

राजा के इन सत्कृत्यों से संतुष्ट होकर, कतिपय ऋषि और देवता हंस का रूप धारण करके उडते हुए राजा के निकट गए। राजा अपने प्रासाद शिखर के महल में विश्रांति लेता हुआ लेटा था। तब पिछला हंस अगले हंस को कहता है "हे भल्लाक्ष (अन्धे)! क्या तुझे यह नहीं दिखता, कि इस जानश्रुति राजा का तेज सूर्य के समान फैला हुआ है? उस तेज के निकट मत जाना, उसका स्पर्श तुझे होते ही तू जलकर खाक हो जायगा!" यह सुनकर अगला हंस पिछले हंससे कहता है "हे कंवर (पागल)! गाडेवाले रैक्व को सुहानेवाला यह भाषण तुम किससे करते हो?" पिछले हंसने पूछा "यह गाडेवाला रैक्व कौन है?" अगला हंस बोला "जैसे द्यूतक्रीडा में 'कृत' नामक फांसेसे बाजी जीतने से बाकी के फांसे उसमें अंतर्भूत होते हैं, उसीतरह संसार में मनुष्य जो कुछ सत्कर्म करते हैं वह सब सयुग्वा रैक्व को प्राप्त होता है। रैक्व जो जानता है, वह जो कोई जानेगा, उसको समस्त प्राणि मात्र के शुभ कर्मका फल मिलेगा। ऐसी उस रैक्व की कथा है। क्या यह जानश्रुति राजा उस प्रकार का है?" इस तरह संभाषण करते हुए वे हंस चले गए।

यह संभाषण जानश्रुति राजाने सुना। रातभर उनको नींद नहीं आई; उसके सिरमें केवल रैक्व विषयक विचार चल रहा था। प्रातःकाल में जब वंदिजन और सारथी ने स्तुतिपाठ किया, तब राजाने कहा "तुम सयुग्वा रैक्व के सदश मेरी स्तुती क्यों करते हो?" उन्होंने पूछा, "यह रैक्व कौन है?" राजाने हंसके मुखसे सुना हुवा वचन कहा, और उसकी तलाश करने का हुकूम दिया। उन्होंने अनेक शहरोंमें, ग्रामोंमें, खेडोंमें, इत्यादि बहुत जगह रैक्वकी तलाश की, परंतु उसका पता नहीं लगा। आखिर राजाने अरण्योंमें, आश्रमोंमें, जहां ब्रह्मनिष्ठ, तपस्वी रहते हैं, रैक्व का तलाश करने की सूचना दी। शहरसे दूर ऐसे एक निर्जन प्रदेशमें एक गाडेके नीचे खुजली खुजाता हुवा एक परम तेजस्वी ब्राह्मण सारथी को दिख पडा। यह समझकर कि यह रैक्व होगा सारथिने पूछा "हे भगवन्! सयुग्वा रैक्व क्या आपही हैं?" उसने जवाब दिया "हां" शीघ्रही सारथिने राजाको खबर दी, कि रैक्व का पता लग गया। राजा छः सौ गाएं, सोनेका कंठा, और एक खच्चरों का रथ लेकर रैक्वके पास आया। ये सब चीजें अर्पण करके राजाने कहा "यह सब मैं आपकी सेवा में लाया हूं। इसका स्वीकार करके मुझे अनुगृहीत कीजिये, और आप जिस देवता की उपासना करते हैं, उस देवता का उपदेश मुझे कीजिये।" यह सुनकर रैक्व ने कहा-"हे शूद्र! [शुचा=शोकसे, दुद्राव=दौडा; इसलिये शूद्र।] हंसका वचन सुनकर इसको शोक हुआ, और उस शोकावेगसे वह अपने पास दौड आया, यह सूचित करने के लिये इस संबोधनकी योजना बहुधा की गयी होगी; क्योंकि राजा क्षत्रिय था, शूद्र नहीं] तुह्मारा यह हार, ये गायें, यह रथ, ये सब चीजें तुह्मारी तुह्मींको शुभदायक हों, उनसे मेरा कोई कर्तव्य नहीं।" राजा को [illegible] आई, कि यह धन कदाचित् कम होगा। [illegible] अपने ग्राम को वापिस गया, और अबकी बार एक हजार गायें, कंठा, खच्चरों का रथ और अपनी सुस्वरूप और सुशील कन्याको लेकर रैक्व के पास आकर बोला "हे भगवन्! यह सारा धन और जिस ग्राम में आप रहते हैं वह ग्राम, इन सब का स्वीकार कीजिये और मेरे ऊपर अनुग्रह करके मुझे उपदेश दीजिये"॥

राजाका यह भाषण सुनकर, राजकन्या के मुखपर स्नेहसे हाथ फिराता हुवा रैक्व बोला "हे शूद्र! फिरसे तुम यह सब ले आए! इस ठाठबाटसे और ऐश्वर्यसे क्या तुम ब्रह्मज्ञान संपादन करने की आशा रखते हो? यह सब तुमही रखो!"

सयुग्वा रैक्वका यह उत्तर सुनते ही राजाके सिरमें अच्छा प्रकाश पड गया। उसने अपने धन और ऐश्वर्य का अभिमान तथा गर्व छोड दिया; रैक्वके चरण पकड लिये और शिष्यभावसे उसकी सेवा करना प्रारंभ किया। योग्य समय बीतने पर रैक्वने उसपर अनुग्रह किया; उसको 'संवर्ग-विद्या' बतलाई और ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया, और इस प्रकार उसको कृतार्थ किया। रैक्व जिस जगह रहता था, उसके आजूबाजूके प्रदेश को 'रैक्वपर्ण' नाम प्राप्त हुवा। (छां० उ० ४।१-३)

(८) अश्वपति कैकेय।

उपमन्युका पुत्र प्राचीनशाल, पुलुषका पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लवी का पुत्र इंद्रद्युम्न, शर्कराक्ष का पुत्र जन-और अश्वतराश्वका पुत्र बडिल, ये पांच महाशय श्रुतिसंपन्न ब्राह्मण एक जगह मिले और यह विचार करने लगे, कि 'हमारा आत्मा कौन है और ब्रह्मका मतलब क्या है?' उन सब ने यह ठहराया, कि 'सांप्रत कालमें अरुण पुत्र उद्दालक वैश्वानर-आत्मा को भली भांति जानता है। सर्वानुमति हो, तो अपन उसके पास जाकर इसके विषय में पृच्छा करें" आखिर निश्चय करके वे उसके पास गए।

उद्दालकने उनको दूरसे देखते ही उनके आगमन का प्रयोजन जान लिया, और मन में विचार किया, कि 'ये विद्वान् महाशय मुझे कुछ प्रश्न पूछेंगे, उनके समाधानकारक उत्तर मैं न दे सकूंगा, इसलिये उनको किसी दूसरेका नाम सूचित करना ठीक होगा।' ऐसा विचार करके उसने उन महाशयों से कहा 'हे महाशय! सांप्रत काल में केकय पुत्र अश्वपति वैश्वानर - आत्माको भली-भांति जानता है। अपन सब मिलकर उसके पास जावें।' इसके अनुसार वे सब अश्वपति के पास गए।

अश्वपति राजाने उन सबका योग्यताके अनुसार पृथक् पृथक् स्वागत किया। दूसरे दिन प्रातः काल में राजाने बहुतसा धन उनके साम्हने रखा और उसका स्वीकार करनेकी प्रार्थना की। ये महाशय धनकी आशासे नहीं गए थे, उन्होंने उस धन की ओर देखा भी नहीं। राजाने सोचा-'क्या ये सज्जन मुझे अन्य राजाओं के समान अधार्मिक और दुराचारी समझकर मेरे धन का स्वीकार नहीं करते?" ऐसा सोचकर राजाने कहा—

"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

अर्थ- मेरे राज्यमें चोर नहीं [क्यों कि] कंजूस मनुष्य (धन विपुल रहकर दान न देनेवाला) नहीं है। कोई भी मद्यपी नहीं, अग्नि की उपासना न करनेवाला कोई भी नहीं, अविद्वान् कोई भी नहीं, व्यभिचारी पुरुषही नहीं, तब व्यभिचारिणी कहांसे होगी?'

[हमें संदेह है कि इस श्लोक की कसौटीमें रामराज्य भी उतरेगा या नहीं। प्रत्येक राजाको अथवा राजमंडलको चाहिये, इस श्लोक में वर्णित आदर्श को साम्हने रखकर वह अपने राज्यका करोबार चलावे, इससे उसका और प्रजा का असीम कल्याण होगा।]

"हे महाशय! मैं एक यज्ञकरनेवाला हूं। उसमें एक एक ऋत्विज को जितना धन दूंगा, उतना आपमेंसे हर एकको दूंगा। इसलिये आप सब महाशय यहां रहें और मेरे यज्ञ की साङ्गता होनेपर आप वापिस जावें।"

राजा का भाषण सुनकर उन्होंने कहा 'हे राजन्! मनुष्य जिस कार्यके उद्देशसे दूसरेके पास जाता है, वही उसका कार्य पूरा करना चाहिये। तुम वैश्वानर आत्मा को भलीभांति जानते हो; हमें उसका उपदेश करो; तुम्हारे धन से हमें कोई सरोकार नहीं।'

परंतु केवल मुंह से मांगने से कोई किसी को आत्मज्ञान देता अथवा बतलाता नहीं। आत्मज्ञान सचमुच में चाहिये हो, तो देहाभिमान का सर्वस्वी त्याग करके सद्गुरु की शरण में जाना और उसके चरणोंपर अपना मस्तक नम्र करना चाहिये। राजाने कहा, "मैं इसका विचार करके कल सुबह बतलाऊंगा।" राजाका अभिप्राय वे तुरंत समझ गए। दूसरे दिन प्रातःकाल में अपने अभिमान और गर्व को तिलांजलि देकर अपने हाथ में समिधा लेकर वे छः महाशय राजाकी शरण में जाने को निकले। (समित्पाणिः का अर्थ है, हाथ में समिधा लेकर आना। इससे सूचित होता है, कि वह सद्गुरु की सेवा करने को सिद्ध है; इसी तरह ज्ञानरूपी अग्नि में अपने व्यक्तित्व का देहाभिमान का समिधा के समान हवन करने को तैयार है और ज्ञानस्वरूप बनने के लिये तयार है।) सच्चा सद्गुरु मान अपमान की पर्वा नहीं करता, वह भाव का भूखा रहता है। राजाने उनका उपनयन किये विना, उनसे प्रणाम लिये विना, उनको आत्मविद्या का उपदेश किया।

राजाने उनमें से हरएक को प्रश्न किया, कि "तुम कौनसे आत्मा की उपासना करते हो?" और उनकी एकदेशीय उपासना सुनलेकर, उनके गुणदोषों का यथार्थ वर्णन करके अन्त में इन सब उपासनाओं का समन्वय किया। राजाने उनको समस्त (समिष्ट) वैश्वानर की उपासना समझा दी, और उसके संबंध में हवनविधि भी यथासांग बतलाया। (यह सविस्तर कथा छांदोग्योपनिषद्, अध्याय ५, खंड ११-२४ में देखिये।)

(९) गर्विष्ठ श्वेतकेतु।

(तत्त्वमसि श्वेतकेतो)

उद्दालक आरुणि का एक पुत्र श्वेतकेतु नामक था। उसको पिताने कहा 'बेटा, अध्ययनके लिये गुरुगृह में ब्रह्मचर्यव्रतसे रहो, क्यों कि हमारे कुलमें अध्ययन किये विना कोई नामधारी ब्राह्मण (ब्रह्म-बंधु) नहीं होता।' पिताका यह वचन सुनकर श्वेतकेतु अध्ययन करनेके हेतु गुरुगृहको गया। उस समय उसकी अवस्था बारह वर्ष की थी। वहां बारह वर्ष रहकर संपूर्ण वेदोंका अध्ययन करके वह घर लौट आया; तब उसे यह गर्व हुआ, कि मैं श्रेष्ठ हूं, बहुश्रुत हूं। विद्याका प्रमुख लक्षण जो विनय, वह उसमें दिखता न था। यह देखकर उसके पिताने कहा "बेटा! क्या तुमने अपने गुरु से वह आदेश, उपदेश अथवा तत्त्व पूछा है, कि जिसके द्वारा अश्रुत बातें श्रुत होती हैं, अतर्कित बातें समझ में आती हैं, और अज्ञात बातें ज्ञात होती हैं?'

श्वेतकेतु— भगवन्! ऐसा कौनसा आदेश है?

आरुणि– एक मृत्पिण्डका सुवर्णका अथवा लोहेका यथावत् (पूर्ण) ज्ञान होनेसे मिट्टीके बर्तनोंका, सुवर्णके आभूषणोंका, छुरी चाकू इत्यादि लोहेके पदार्थोंका ज्ञान होता है; क्योंकि विकार (अर्थात् मिट्टी के सोनेके अथवा लोहेके पदार्थ) केवल नाममात्र– शब्दमात्र - होते हैं; किंतु यथार्थ, मृत्तिका सुवर्ण और लोहा ही सत्य है। इस प्रकार वह आदेश है।

श्वेतकेतु– मेरे आचार्य को बहुधा यह आदेश अवगत न होगा। यदि उन्हें वह मालूम होता, तो वे मुझे अवश्य बतलाते। अब आपही कृपा करके मुझे बतलाइये।

अपने पुत्रका गर्व उतरा हुआ देखकर आरुणि- ने इस विषयका विवेचन करना शुरु किया। वे बोले "बेटा, सृष्टिकी उत्पत्तिके पहिले सत् एक ही था। कोई कहते हैं कि असत् था और असत् से सत् हुआ। परंतु असत् से सत्– कैसे होगा। पहिले केवल एक सत् एक तथा अद्वितीय ऐसा था। उसने मनमें सोचा (विचार किया) कि 'मैं बहुत होऊं।' ऐसा विचार करके उसने पहिले तेज उत्पन्न किया, पश्चात् उदक और तदनंतर

' क्या ये सज्जन मुझे अन्य राजाओं के समान सरोकार नहीं । '

76

अन्न उत्पन्न किया। बाद में इन तीन मूलतत्त्वोंसे समस्त प्राणी और पदार्थ उत्पन्न हुए। उस सत् नामक देवता ने तेज, आप और अन्न, इन तीन तत्त्वोंमें प्रवेश करके उनको सजीव और नामरूपों से व्यक्त किया। इस जगत्‌में सकल पदार्थ तेज, आप, अन्न, इन तीन तत्त्वोंके मिश्रण से बने हुए हैं, और प्रत्येक पदार्थमें ये तत्त्व न्यूनाधिक प्रमाण-में मिलते हैं। जहां प्रकाश अथवा उष्णता हो, वहां 'तेज' तत्त्व है, ऐसा समझना चाहिये। द्रव अथवा प्रवाही भाग हो, वहां 'आप' तत्त्व, और घना भाग हो, वहां अन्न तत्त्व समझना चाहिये। अग्निका जो लाल, शुक्ल और कृष्ण रूप हैं, वह क्रमशः तेज, आप और अन्न का ही रूप है। इसी तरह सूर्य, चंद्र, विद्युत् और पदार्थ इनके रूपोंसे इस त्रिवृत्तत्त्वका निश्चय होता है। खाया हुआ अन्न भी तीन प्रकारसे विभक्त होता है; उसके स्थूल भागकी विष्ठा होती है, मध्यम भाग का मांस होता है और सूक्ष्म भागका मन होता है। पानीके स्थूल अंश का मूत्र होता है, मध्यम अंशका रक्त होता है और सूक्ष्म अंश प्राण होता है। तैल, घृत आदि तेजके स्थूल धातुकी हड्डी बनती है, मध्यम धातुकी मज्जा बनती है और सूक्ष्म धातु वाक् होती है। मन अन्नमय है, प्राण आपोमय है और वाक् तेजोमयी है।

श्वेतकेतु ने कहा "भगवन्! मुझे यह फिरसे स्पष्टतया बतलाइये।" आरुणिने कहा "बेटा! दहीका मंथन करनेसे उसका सूक्ष्म सारभूत अंश ऊपर आता है, वही मक्खन अथवा घी है; इसी तरह खाये हुए अन्नका जो सूक्ष्म सारभूत अंश उद्भूत होता है, वह मन है, पिये हुए पानीका जो सूक्ष्म सारभूत अंश है वह प्राण है, और तेजका जो सारभूत अंश है वह वाक् है। इसलिये मन अन्नमय, प्राण आपोमय और वाक् तेजोमयी है। इसकी प्रतीति लेनेके लिये तुम पंद्रह दिनतक कुछ खाओ मत; पानी चाहे उतना पियो।" श्वेतकेतु ने वैसाही किया और सोलहवें दिन वह पिताके पास गया। पिताने उसको वेदका पठन करने को कहा। श्वेतकेतु बोला 'मुझे अब कुछ याद नहीं आती।' आरुणि ने तब कहा, कि 'तुम भोजन करके आओ।' श्वेतकेतु भोजन कर आया, तब उसको संपूर्ण वेदोंका स्मरण आया। तब आरुणि बोले, "प्रज्वलित अग्निमेंसे एक छोटी सी खद्योतके समान चिनगारी जैसे रह जाय, वैसे तुम्हारी षोडष कलाओंमेंसे एक कला अव-शिष्ट रही थी। चिनगारीपर घास रखकर उसको प्रज्वलित करनेसे पुनरपि अग्नि प्रदीप्त होता है, वैसे तुम्हारी अवशिष्ट कला अन्नसे बढ गई है, इसलिये तुम्हें संपूर्ण वेदोंका अब स्मरण आता है। अतएव मन अन्नमय, प्राण आपोमय और वाक् तेजोमयी है।"

आरुणि– पुरुष जब सोता है (स्वपिति) तब वह सद्रूप को पहुंचता है, स्व को– आत्माको प्राप्त होता है, इस लिये 'स्वपिति' कहते हैं। पक्षीको पैरमें डोरा बांधकर छोड दिया जाय, तो वह थोडासा उडता जरूर है, परंतु वह आखिर शिकारी के हाथपर ही आकर बैठता है, इसी तरह जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओंमें अनेक व्यापार करके जीव अंतमें सद्रूप प्राणका आश्रय लेता है। इसलिये प्राण मनका (जीवका) बंधन है।

"अन्नादि कार्य–कारण परंपरासे भी यही जगत् का मूल ठहरता है। अशनाया = क्षुधा, पिपासा= प्यास। खाये हुए अन्नको आप(पानी) ही आगे ले जाता है (आपः एव अशितं नयन्ते) अर्थात् हजम करता है। इसलिये पानी अन्नको रसभावको पहुंचाता है, उस अन्नके द्वारा क्षुधा पिपासाके योगसे शरीररूप कार्य होता है। विना कारणके कोई भी कार्य संभाव्य नहीं। इस शरीरका कारण अन्न, अन्नका मूल (कारण) आप, आपका मूल तेज और तेजका मूल सत् है। इसलिये हे श्वेतकेतो! इन सब प्रजाओंका मूल सत् है; आश्रयस्थान और अधिष्ठान भी वही है। हे पुत्र। मरणोन्मुख

लोहका यथावत् (पूर्ण) ज्ञान होनेसे मिट्टीके तेज उत्पन्न किया, पश्चात् उदक और तदनंत

पुरुषकी वाक् मनमें लीन होती है, मन प्राणमें, प्राण तेज में और तेज सत् नामक परा देवता में लीन होता है। यह जो सूक्ष्म सद्रूप –सत्य है, वह तुमही हो।

आरुणि- बेटा, एक वटवृक्षका फल लाओ और उसको फोडो। उसमें क्या दिखता है ?

श्वेतकेतु-- अत्यंत सूक्ष्म दाने अर्थात् बीजे दिखते हैं।

आरुणि- उनमेंसे एक बीजा फोडकर देखो, और कहो उसमें क्या दिखता है।

श्वेतकेतु- उसमें कुछ नहीं दिखता।

आरुणि- वटवृक्षका बीजा फोडकर देखनेसे उसमें न दिखनेवाले सूक्ष्म तत्त्वसे यह बडा वटवृक्ष होता है, इसीप्रकार उस अति सूक्ष्म सत्से यह स्थूल जगत् हुआ है। वह सत् सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है, वही तुम हो।

आरुणिने नमक की एक डली पानी में डालकर सुबह लानेको श्वेतकेतु को कहा। श्वतकेतुने वैसा किया।

आरुणि- बेटा, कल तुमने इसमें जो नमक डाला वह बाहर निकालो देखें।

श्वेतकेतुने हाथ डालकर देखा, परंतु वह डली उसके हाथ नहीं लगी। तब आरुणि बोले "वह नमक उसमें घुल गया है; उस पानीका कोई भी हिस्सा, नीचेका, बीचका अथवा ऊपरका मुंह में डालकर बतलाओ कैसा लगता है।

श्वेतकेतु- मैंने सब तरफ का पानी पीकर देखा वह एकही सा खारा है।

आरुणि- जिस प्रकार नमक पानी में रहकर भी तुम्हें दिखता नहीं, तथापि वह पानी में सर्वत्र विद्यमान है। यह बात तुम्हें आचमन लेने से ज्ञात हुई। इसी तरह इस शरीर में विद्यमान सूक्ष्म सत्तत्त्व तुम्हें दिखता नहीं, तथापि विचारके द्वारा तुम्हें प्रतीति होगी, कि वह शरीर में है। वही तुम हो। किसी पुरुष की आंखें बांधकर गांधार देश से उठाकर किसी निर्जन अरण्य में छोड दिया, तो वह चारों तरफ मुंह करके आक्रोश करता है कि "मेरी आंखें बांधकर मुझे यहां लाकर छोड दिया, मुझे बतलाओ कि गांधार देश कहां है।" तब कोई आदमी उसका बंधन छोडकर उसे बतलावे, कि अमुक दिशा से तुम जाओ, तुम गांधार देशको पहुंच जाओगे। तब वह समझदार पुरुष उस दिशा से जाने लगता है, एक ग्राम से दूसरे ग्रामको पूछते पूछते आखिर गांधार देश को पहुंचता है। इसीतरह इस जीवको पापपुण्यादि चोरोंने इस संसारमें लाकर छोड दिया है; वह अनेक आधिव्याधियों से व्याकुल होकर आक्रोश करने लगता है। तब किसी कृपालु आचार्य के अथवा गुरुके उपदेश से वह अपने स्थान को, सन्मार्ग को पहुंचता है, और उसका अविद्यापटल नष्ट होकर वह अंत में सत्संपन्न अथवा सद्रूप होता है। हे श्वेतकेतो ! वही सत् तुम हो।"

पिताके इस उपदेश से श्वेतकेतु को सत्स्वरूप का ज्ञान हुआ और अपने नामके अनुसार [श्वेत- शुभ्र, सत्यः केतु = ध्वज] चमकने लगा। छां०उ०६)

(१०) अन्तेवासि नारद।

(तरति शोकमात्मवित्)

'हे भगवन् ! मुझे ज्ञान बतलाओ" ऐसा कहते कहते नारद शिष्यभावसे सनत्कुमारकी (स्कंदकी) शरण में गये। सनत्कुमार ने कहा-

" जो कुछ तुम जानते हो, वह पहिले मुझे बतलाओ, तब उसके आगे मैं तुम्हें बतलाऊंगा।" इसपर नारदने कहा 'भगवन्! मैं चार वेद छः शास्त्र, इतिहास, पुराण, चौदह विद्या, ६४ कला इत्यादि सब जानता हूं। परंतु मैं केवल मंत्रवेत्ता हूं, आत्मवेत्ता नहीं। आपसरीखे श्रेष्ठ पुरुषों से मैंने सुना है, कि आत्मवेत्ता शोक को लांघकर पार जाता है और मैं आत्मवेत्ता न होनेके कारण मुझे ताप होता है। आप मुझे छुडाइये और शोक

के उसपार ले जाइये ।

सनत्कुमार- तुमने जो यह वेदादिक का अध्ययन किया है, वह सब नाम है। तुम ऐसी उपासना करो, कि 'नाम ब्रह्म है:' इससे नामके विषयमें तुम्हारा यथेष्ट संचार होगा ।

नारद- भगवन् ! नामसे अधिक क्या कोई वस्तु है ?

सनत्कुमार-वाक् नामसे अधिक (श्रेष्ठ) है, क्यों कि वेदादि समस्त विद्याओं का ज्ञान वही करा देती है।, इसलिये ऐसी उपासना करो' कि ' वाक् ब्रह्म है । इसीतरह वाक्से मन अधिक है, क्योंकि वाक् और नाम इन दोनों का मन में अंतर्भाव होता है। इसलिये ऐसी उपासना करो, कि, 'मन ब्रह्म है।' मनसे संकल्प अधिक है। संकल्प ही से मन आदि सब का व्यवहार होता है। संकल्प सबका आधार है, इसलिये ऐसी उपासना करो, कि 'संकल्प ब्रह्म है।' संकल्पसे चित्त अधिक चित्त से ध्यान, ध्यान से विज्ञान, विज्ञान से बल, बल से अन्न, अन्न से आप (पानी), आप से तेज, तेज से आकाश, आकाश से स्मर (स्मृति), स्मर से आशा और आशा से प्राण अधिकतर, ऐसी साधनपरंपरा अथवा साधनसोपान है । प्राण ही सर्वाधार है, प्राण ही माता, पिता, भ्राता इत्यादि है। वही सर्वाधार है। इसलिये ऐसी उपासना करो, कि प्राण ब्रह्म है।

जब यह ज्ञान होता है, कि 'प्राण ब्रह्म है' यही सत्य है, तभी मनुष्य सत्य बोलता है, अन्यथा नहीं। इसलिये ज्ञान जानना चाहिये। जब मनुष्य मनन करता है, तब उसे ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं, इसलिये मनन जानना चाहिये। जब मनुष्य श्रद्धा रखता है, तब वह मनन करता है। श्रद्धा हो तो मनन होता है, अन्यथा नहीं होता। इसलिये श्रद्धा को जानना चाहिये। जब मनुष्य निष्ठा रखता है, तब श्रद्धा उत्पन्न होती है। जहां निष्ठा नहीं, वहां श्रद्धा नहीं। इसलिये निष्ठाको जानना चाहिये। कृति से निष्ठा होती है, इसलिये कृतिको जानना चाहिये। जब सुख होता है, तब मनुष्य कृति करता है। सुख न होता हो, तो वह कृति नहीं करता, इसलिये सुख का ज्ञान कर लेना चाहिये। जो भूमा निरतिशय महत्तत्व है, वही सुख है। अल्प अर्थात् परिच्छिन्न वस्तु में सुख नहीं है। जब जिस अवस्था में दूसरा कुछ नहीं दिखता, सुन नहीं पडता और जाना नहीं जाता, तब उस अवस्थाका नाम भूमा। दूसरा कुछ देख सकते, सुन सकते, जान सकते हैं, उसका नाम अल्प। भूमा ही अमृत है, अल्प मर्त्य है। वह भूमा स्वतः के माहात्म्य में स्थिर है। वस्तुतः वह स्वमाहात्म्य में भी स्थित नहीं है। गाय, अश्व, हाथी, सुवर्ण, दास, भार्या, कृषि, घर इत्यादि को महिमा समझते हैं; परंतु मैं ऐसा नहीं कहता, भूमा एक ही अद्वितीय है। वही नीचे, ऊपर, आगे, पीछे, सब बाजू में है, वही यह सब कुछ है। वह भूमा मैं हूं, इसलिये (अहंकारादेश) मैं ही नीचे, ऊपर, आगे पीछे, सब बाजूमें हूं। वह आत्मा है, इसलिये (आत्मादेश) आत्मा ही नीचे ऊपर, आगे पीछे, सब बाजूमें है, इस प्रकार सर्वत्र यह आत्मा ही है ऐसा देखनेवाला, मनन करनेवाला और जाननेवाला मनुष्य आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्मानंद (आत्मामें रममाण होनेवाला, क्रीडा करनेवाला, आनंद पानेवाला) होता है। वह स्वराट्-स्वतंत्र होता है और सब लोगों में यथेष्ट संचार करता है। ऐसा विद्वान्, मृत्यु, रोग और दुःखका अनुभव नहीं लेता। वह सब कुछ देखता है। वह एकधा, त्रिधा, पंचधा,-शतसहस्रधा होता है, उसको सब कुछ सब तरह से प्राप्त होता है। आहार (शरीर से और मन से जो कुछ लिया जाता है) शुद्ध रहने से सत्त्व (अंतःकरण) शुद्ध होता है, सत्त्व शुद्ध रहनेसे स्मृति (बुद्धि) निश्चित होती है और बुद्धि स्थिर होनेसे समस्त (संशय अहंकार ममत्व आदि) ग्रंथियों का नाश होता है। इसप्रकार रागद्वेषशून्य-निष्पाप नारद को भगवान् सनत्कुमार ने- स्कंदने तम का- अविद्याका अंत बतलाया और शोकको पार पहुंचाया। (छां०उ०)

(११) इंद्र विरोचन का आत्मशोध।

"पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम, सत्यसंकल्प ऐसे आत्मा की खोज करनी चाहिये। जो इस आत्माकी खोज करके उसको जानता है, उसको समस्त लोक प्राप्त होते हैं और उसकी सकल कामना पूर्ण होती हैं।" प्रजापतिने प्रतिपादन किया हुवा यह तत्त्व देवता और असुर इन दोनोंने सुन लिया, और वह सीख लेनेके हेतु उन्होंने अपने अपने प्रतिनिधी- इंद्र और विरोचन- को प्रजापति के पास भेजा। वे दोनों बत्तीस वर्षतक प्रजापति के पास ब्रह्मचर्यव्रत से रहे। प्रजापति के यह पूछने पर, कि तुम यहां क्यों रहे, उन दोनों ने अपना हेतु प्रगट किया। तब प्रजापतिने कहा "नेत्र में यह जो पुरुष दिखता है, वह आत्मा है। वह मृत्युरहित और भयरहित है। वही ब्रह्म है।" नेत्र में जो शरीर की प्रतिमा अथवा छाया दिखती है, वही आत्मा है, ऐसा समझकर उन दोनों ने पूछा, कि "भगवन्! उदक में और दर्पण में जो (प्रतिबिंबरूपसे) दिखता है, वह कौन है?" प्रजापति ने कहा "तुम नख, केश इत्यादि निकाल डालो, उत्तम वस्त्र परिधान करके अच्छी तरह अलंकृत होकर दर्पण में देखो और बतलाओ क्या दिखता है।" उन्हों ने वैसा किया और कहा- "लोम नखसे उत्तम रीति से अलंकृत किया हुआ हमारा ही प्रतिरूप हमें दिखता है।" तब प्रजापति बोले "यही आत्मा है। यह मृत्युरहित और भयरहित है। यही ब्रह्म है।" प्रजापतिका यह विधान गलत नहीं है; क्यों कि आत्मा सब कुछ है ही। परंतु प्रजापति जानते थे, कि यह विधान शिष्योंको भ्रममें पाडनेवाला है। तथापि प्रजापति इस तत्त्वको भी भलीभांति जानते थे, कि अति उच्च तत्त्व शिष्यों को एकदम नहीं सिखाना, किंतु क्रमक्रम से धीरे धीरे सिखाना चाहिये। उनकी यह सदिच्छा थी, कि अपने विधानपर ये शिष्य स्वयं विचार करें, अपनी शंकाएं उपस्थित करके उनका निरसन करालेवें और ज्ञान की प्राप्ती कर लेवें। परन्तु इन्द्र तथा विरोचन विचार किये बिना संतुष्ट होकर वहांसे चले गए। उनको इसतरह जाते हुए देखकर प्रजापतिने अपने मनमें कहा, कि आत्मज्ञान प्राप्त किये बिना ये दोनों वापिस जा रहे हैं। केवल इतने ही ज्ञानसे जो तृप्त होंगे-चाहे वे देव हों या असुर हों-उनका पराभव (नाश) होगा। प्रजापतिका यह भविष्य विरोचन और उसके भाई असुरोंके संबंध में सच निकला। विरोचनके बतलानेसे सारे असुरोंको यह निश्चय हुआ, कि देह की फिकर करना, उसको शृंगार आदिसे सजाना और उसको सुखमें- चैनमें और ऐश आराममें- रखना ही ब्रह्म (आयुष्य का इतिकर्तव्य) है। अदाता, अश्रद्ध और दुराचारी मनुष्य को भी 'असुर' कहते हैं। ऐसे आसुरी मतके लोग मुरदे को भी वस्त्र पुष्प अलंकार आदि से सजाते हैं। वे समझते हैं, कि ऐसे संस्कारोंसे परलोक की प्राप्ति होती है।

परंतु इंद्र लौट रहे थे, देवताओं के पास नहीं पहुंचे। मार्ग ही में उनके मनमें शंका हुई, कि यदि शरीर का प्रतिबिंब (छाया) ही ब्रह्म हो, तो जैसा शरीर होगा, वैसा प्रतिबिंब होगा। देह यदि लंगडा, लूला, अंधा, अथवा नकटा होगा, तो उसका प्रतिबिंब वैसाही दिखेगा। इसीतरह शरीरका नाश होते ही उसका भी नाश होगा। अब इस आत्मज्ञानमें मुझे कोई सार नहीं दिखता। ऐसा विचार करके इंद्र प्रजापति के पास फिर गए और अपनी शंका उनके सामने रखी। प्रजापति ने वह शंका सुनली और फिरसे बत्तीस वर्ष तक अपने पास ब्रह्मचर्य व्रत से रहने को कहा। इंद्रने वैसा ही किया, तब प्रजापतिने उन्हें आत्मज्ञान की दूसरी सिढ़ी बतलाई। वह इसतरह कि "स्वप्न में सुख से जो नानाविध भोग भोगता है, वही आत्मा है। वही मृत्युरहित और भय-

रहित है। वही ब्रह्म है। इस शिक्षा से इंद्र का तात्कालिक समाधान हुआ और वे देवोंके पास जाने को निकले। परंतु मार्ग में फिरसे उन्हें शंका उत्पन्न हुई। उन्हों ने सोचा, कि स्वप्न का पुरुष अंधत्वादि दोषोंसे युक्त नहीं होता, यह बात सच है; परंतु स्वप्नमें उसको भय मालूम होता है और कभी वह स्वप्नमें शोक और रुदन भी करता है। अतएव इस आत्मज्ञान में भी कोई सार नहीं। ऐसा विचार मनमें आतेही वे लौट पडे और फिरसे उन्होंने अपनी शंका प्रजापति के सम्मुख रखी। प्रजापतिने यह शंका भी सुनली और फिरसे बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यव्रत से रहने को कहा। इंद्रने वैसाहि किया, तब प्रजापतिने उन्हें आगेकी सिढी (आत्मज्ञानकी) बतलाई। वह इसतरह कि " जब इस जीव की संपूर्ण इंद्रियवृत्तियां अस्तंगत होकर, वह प्रसन्न होता है और विना स्वप्न के सुखसमाधान से निद्रा लेता है, वह आत्मा है। वह मृत्युरहित और भयरहित है। यही ब्रह्म है। " यह सुनकर इंद्रका तात्कालिक समाधान हुआ और वे स्वलोक को जाने के लिये निकले। परंतु मार्गमें उन्हें फिरसे शंका हुई, कि यह सुप्त पुरुष स्वतः को या किसी दूसरे को ऐसा नहीं जानता, कि ' यह मैं हूं ' किंतु विनाशी ही दिखता है। इंद्र फिरसे प्रजापति के पास गए और उन्हें अपनी शंका बतलाई। प्रजापति ने कहा कि शंका योग्य है, और अबकी बार केवल पांच वर्षतक ब्रह्मचर्य व्रत से रहने को कहा। सब मिलाकर एकसौ एक वर्षतक इंद्रने ब्रह्मचर्यव्रत से रहकर तपश्चर्या की, तब वे पूर्ण ज्ञानाधिकारी हुए। उन्हें कृतार्थ करनेके हेतु प्रजापतिने ऐसा उपदेश किया–

"हे मघवन् (इंद्र)! यह शरीर मर्त्य है, मृत्युसे ग्रसित है। वह इस अमृत और अशरीर आत्मा का अधिष्ठान है। जब यह आत्मा शरीर से युक्त होता है (अर्थात् जब ऐसा कहता या समझता है कि यह शरीर ही मैं हूं) तब वह प्रिय और अप्रिय सुख- दुःख से युक्त (ग्रस्त) होता है। जबतक वह देहाभिमानी है, तबतक प्रिय अप्रिय का– सुखदुःखोंका नाश नहीं होता। यह जरूर है, कि देहाभिमान छूटनेपर प्रिय और अप्रिय उसको स्पर्श नहीं करते। आयु, अभ्र, विद्युत्, मेघ, ये सब अशरीर हैं, तथापि वे आकाश से उत्पन्न होकर श्रेष्ठ ऐसी (सूर्यकी) ज्योतिको प्राप्त होते हैं और अपने अपने रूपसे व्यक्त होकर अपने अपने कार्य करते हैं। इसी तरह विद्वान् पुरुष देहाभिमान को छोडकर परमज्योति को प्राप्त होता है और अपने स्वाभाविक रूपसे व्यक्त होता है। इस प्रकारका जो उत्तम पुरुष होता है, वह खाता पीता है, क्रीडा करता है, स्त्रियोंसे, वाहनोंसे, आप्तोंसे तथा अन्य वस्तुओंसे प्रमाण होता है। परंतु इन सबसे समीप रहने वाले शरीर का स्मरण नहीं करता। रथसे अथवा गाडी से जुते हुए घोडेका अथवा बैलका उस रथसे अथवा गाडीसे केवल तात्कालिक संबंध रहता है; उसीतरह इस पुरुष के प्राण का शरीर से संबंध रहता है। (जागृदवस्था-में) चक्षुगत आकाश में स्थित जो आत्मा, वह चाक्षुष पुरुष है। उसको देखने के लिये चक्षु है। " मैं इसका गंध लेता हूं " ऐसा जो जानता वह आत्मा है; गंध लेनेके लिए उसको घ्राण (नाक) है। "मैं बोलता हूं" ऐसा जो जानता, वह आत्मा है; उच्चार करनेके लिये उसको वाणी है। " मैं सुनता हूं " ऐसा जो जानता वह आत्मा है; श्रवण करनेके लिये उसको श्रोत्र (कान) है। " मैं यह मनन करता हूं" ऐसा जो जानता वह आत्मा है; मनन करने के लिये उसको मन है। मन उसका दिव्यचक्षु (ज्ञानसाधन) है। अपने इस दिव्य चक्षु से वह ब्रह्मलोक के काम— इष्ट पदार्थों को देखता हुआ रममाण होता है। ऐसे इस आत्मा की देवता उपासना करते हैं; इसलिये संपूर्ण काम उन्हें प्राप्त होते हैं। जो इस आत्मा का पूर्ण ज्ञान अवगत करके उसको अच्छीतरह जानता है उसको भी समस्त लोक तथा संपूर्ण काम प्राप्त होते हैं।" (छां० उ० ८)

उपनिषत्कथा।

12

[लेखक- श्री० ना० वा० गुणाजी, बेलगांव.]

(१२) ब्रह्मिष्ठ याज्ञवल्क्य।

विदेह देशके जनक राजाने एक बडा यज्ञ किया और उसमें बहुतसी दक्षिणा दी। कुरु और पांचाल देशके बहुतसे ब्राह्मण उस यज्ञमें आये थे। जनक को यह जाननेकी इच्छा हुई. कि इन सबमें ब्रह्मिष्ठ (अतिशय विद्वान् वेदपारंगत) कौन है। उन्होंने एक हजार गाएं एक जगह बंधवाई: हर एक गायके सींगमें दस दस पादोंका (लगभग १७८ ग्रेन ट्राय) सुवर्ण बांध दिया और यह जाहीर किया, कि हे पूज्य ब्राह्मणगण! आपमेंसे जो ब्रह्मिष्ठ होगा, वह इन गायोंको खुशीसे ले जावे। परंतु उन गायोंको लेजाने का किसीको धैर्य न हुआ। तब याज्ञवल्क्यने अपने एक शिष्य को कहा 'बेटा सामश्रव! इन गायोंको ले जाओ। उस शिष्य ने वैसा ही किया। यह देखकर बाकी के ब्राह्मणों को क्रोध आया। वे आपसमें कहने लगे, क्या यह स्वतःको ब्रह्मिष्ठ समझने की शान रखता है? जनक राजाका अश्वल नामक पुरोहित था। उसने पूछा "हे याज्ञवल्क्य! क्या तुमही अकेले ब्रह्मिष्ठ हो?" याज्ञवल्क्यने कहा, कि 'हम ब्रह्मिष्ठको नमन करते हैं, परंतु हमें गाएं अवश्य चाहिए।' तब अश्वलको प्रश्न करनेका धैर्य हुआ।

(१) अश्वलने ऐसा प्रश्न किया, कि यह सब मृत्यु, अहोरात्र, शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष से व्याप्त और वशीकृत है। यजमान इनसे किसप्रकार मुक्त होंगे? दूसरी बात, अंतरिक्ष आधाररहित है, ऐसी हालतमें यजमान इस अंतरिक्षमेंसे स्वर्गलोक को किस सिढीसे जांयगे?

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया, कि यह विधिपूर्वक यज्ञ करनेहीसे साध्य होगा। अश्वलने यज्ञ की और बातोंके विषयमें प्रश्न पूछे और याज्ञवल्क्यने उनके उत्तर दिए। अश्वल पुरोहित था; यज्ञकी प्रशंसा पर दिए हुए उत्तरोंसे उसका समाधान हुवा और वह चुप होगया।

(२) इसके बाद जारत्कारव आर्तभाग ने ग्रह, अतिग्रह, मृत्यु तथा अन्य कोई कोई विषयों के संबंध में प्रश्न इस तरह किये—

आर्तभाग- यह जो कुछ है. वह सब मृत्यु का अन्न है; परंतु मृत्यु किस देवता का अन्न है?

याज्ञवल्क्य- अग्नि मृत्यु है। यह जलका अन्न है।

आर्तभाग- जब (ज्ञानी) पुरुषका मृत्यु होता है, तब क्या उसके प्राण उसमेंसे निकल जाते हैं या नहीं?

याज्ञवल्क्य- नहीं। वे यहीं (इस शरीरमें) लीन होते हैं। उसका देह फूलता है। अन्योंके सरीखा उसका लिंग शरीर बाहर नहीं जाता, किंतु यहीं नाश पाता है।

आर्तभाग- जब यह पुरुष मरता है, तब उसको कौनसा पदार्थ नहीं छोडता?

याज्ञवल्क्य- नाम। नाम अनंत है। विश्वेदेव अनंत हैं। उसको अनंत लोक प्राप्त होते हैं।

आर्तभाग- जब मरे हुए पुरुषकी वाणी अग्निमें जाती है. प्राण वायुमें, चक्षु आदित्य में, मन चंद्र में, श्रोत्र दिशा में, शरीर पृथ्वीमें, हृदय आकाश में, लोम औषधि में, केश वनस्पतिमें, रक्त और रेत उदकमें लीन होते हैं, तब यह पुरुष कहां रहता है?

याज्ञवल्क्य- बेटा आर्तभाग! तुम अपना हाथ मेरे हाथमें दो। केवल अपन दोनों इसपर विचार करें। इसके बाद दोनों एकतरफ गए और दोनोंने एकांत में विचार किया। जो कुछ उन्होंने कहा, सब कर्महीं कहा। उन्होंने कर्मही की प्रशंसा की। पुण्यकर्मसे पुण्यवान् होता है और पापकर्म से पापी होता है। इसके बाद आर्तभाग चुप हो गया।

(३)लाह्यायनि भुज्यू ने पूछा, कि हम मद्रदेशमें प्रवास करते हुए कपि गोत्री पतंजलके घरको गए। उसकी लडकी के देह में आंगिरस सुधन्वा नामक गंधर्व आता था। उससे हमने प्रश्न किया, कि परिक्षित कहां गए? वही प्रश्न हम आपसे पूछते हैं।

याज्ञवल्क्य- उस गंधर्व ने कहा, कि अश्वमेध करनेवाले जहां जाते हैं वहां गए। अश्वमेधयाजी जिस लोकोंको जाते हैं उनका सविस्तर वर्णन याज्ञवल्क्यने किया।

(४)चाक्रायण उषस्त ने पूछा, कि जैसे घोडा अथवा बैल बतलाया जाता है, उसी तरह साक्षात् और प्रत्यक्ष ब्रह्म ऐसा जो सर्वव्यापी आत्मा- उसका स्वरुप मुझे बतलाइये।

याज्ञवल्क्य-तुम्हाराही आत्मा सर्वव्यापी है। वह प्राणादि वायुओंसे शरीरके सब कर्म करता है। वही तुम्हारा सर्वांतर अर्थात् सर्वव्यापी आत्मा है। परंतु इस दृष्टि के द्रष्टाको, श्रुति के श्रोता को, मति के मन्ताको तुम जान नहीं सकते। यह तुम्हारा आत्मा सर्वव्यापि (दृष्टिका द्रष्टा इत्यादि) है। उस के अतिरिक्त सब विनाशी है। इसपर उषस्त चुप हो गए।

(५) कौषीतकेय कहोलने प्रश्न किया, कि इस सर्वव्यापी आत्माका साक्षात्कार कैसे लेना?

याज्ञवल्क्य- सच्चे ब्राम्हण क्षुधा, तृषा, शोक, मोह, जरा, मृत्युके परे जो आत्मा, उसको जानते हैं; और पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा का त्याग करके भिक्षाचरण करते हैं। जो पुत्रैषणा वही वित्तैषणा और जो वित्तैषणा वही लोकैषणा है। ये दोनों एषणा ही हैं, अर्थात् इच्छा- कामना ही है। इसलिये साधकको आत्मज्ञान अच्छीतरह संपादन करके आत्मबलसे युक्त होकर मननशील होना चाहिये। मौन (मैं ब्रह्म हूं, मेरे सिवाय कुछ नहीं, ऐसा मनसे अनुसंधान) और अमौन (युक्तिपूर्वक आत्मदृष्टि) निःशेष करनेसे वह सच्चा ब्राह्मण ब्रह्मज्ञ (कृतकृत्य) होता है। इसके अतिरिक्त सब (एषणा) विनाशी है। यह सुनकर कहोल चुप हो गए।

(६) इसके बाद वाचक्नवि गार्गी प्रश्न पूछने लगी।

गार्गी- यह सब (पार्थिक जगत्) उदकमें ओत (आडा) प्रोत (खडा) बना हुआ (भरा हुआ) है; परंतु वह उदक किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञ०-उदक वायुमें ओतप्रोत है।

गार्गी- वायु किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञ०- वायु अंतरिक्षलोकमें ओतप्रोत है।

गार्गी अंतरिक्षलोक किसमें, ओतप्रोत है?

याज्ञ०-गंधर्व लोकमें।

गार्गी- और गंधर्वलोक?

याज्ञ०-आदित्य लोक में।

इसके पश्चात् गार्गीके प्रश्नोंके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा, कि आदित्यलोक चंद्रलोकमें, चंद्रलोक नक्षत्रलोक में, नक्षत्रलोक देवलोक में, देवलोक इंद्रलोक में इंद्रलोक प्रजापतिलोक में, प्रजापति लोक ब्रह्म लोकमें ओतप्रोत है। इसपर जब गार्गीने फिरभी प्रश्न किया कि ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है? तब याज्ञवल्क्य बोले- बस करो अब तुम्हारे प्रश्नों की बकबक। तुम अतिप्रश्न कर रही हो (जिसके विषयमें प्रश्न करना न चाहिये, उस विषयमें तुम पूछ रही हो।) अतिप्रश्न मत करो और तुम्हारा मस्तक टूटकर गिरने मत दो। यह सुनकर गार्गी चुप हो गई (अ० ३० ब्रा० ६)

इसके कुछ समयके बाद गार्गी फिरसे खडी हुई और बोली- हे ब्राम्हणगण! मैं अब इन्हे फिर से दो प्रश्न पूछती हूं। यदि उनके यथार्थ उत्तर ये देवें, तो समझलेना कि तुममेंसे कोई भी इनको ब्रह्मज्ञान में जीत न सकेंगे। ब्राम्हण बोले, 'पूछो गार्गी।'

गार्गी- हे याज्ञवल्क्य! जैसे काशी अथवा विदेह निवासी शूर पुत्र प्रत्यंचा उतरे हुए धनुष्यको प्रत्यंचा चढाकर तीक्ष्ण और पीडाकारक दो बाण हाथ में लेकर साम्हने खडा रहे, उसी तरह मैं दो प्रश्न लेकर तुम्हारे आगे खडी हूं। उनके उत्तर दो।

याज्ञ०- गार्गी ! पूछो।

गार्गी- हे याज्ञवल्क्य ! जो द्युलोक के ऊपर है, जो पृथ्वी के नीचे है, जो इस द्यावापृथिवीके मध्य में है, , जिसको भूत, वर्तमान और भविष्य कहते हैं, वह किसमें ओतप्रोत है ? (अर्थात् इस दृष्य विश्वका आधार क्या है ?)

याज्ञ०- जो द्युलोक के ऊपर, पृथिवी के नीचे, उसके मध्यमें है,जिसको भूत,वर्तमान और भविष्य कहते हैं, वह (विश्व) आकाश में ओतप्रोत है।

गार्गी- आकाश किसमें ओतप्रोत है ?

याज्ञ०-इसका उत्तर ब्राह्मण ऐसा बतलाते हैं, कि वह अक्षर में (क्षयरहित ब्रह्म में) ओतप्रोत है।

वह अक्षर, अस्थूल, अनणु, अन्हस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह, अच्छाय (छायारहित), अतम (तमोरहित ,वायुरहित आकाशरहित, संग रहित, रस, गंध चक्षु, श्रोत्र, वाणी, मन; तेज, प्राण, मुख, मात्रा (नाप), अंतर, बाह्यता, इनसे रहित है। वह कुछ खाता नहीं, न वह किसीका भक्ष्य है— सारांश यह कि वह सर्व विशेषणरहित है। इसी अक्षर ब्रह्मके नियंत्रण से (हुकुमसे) सूर्यचंद्र अपने अपने स्थानमें धारण किये जाते हैं और अपने अपने कार्य करते हैं। इसी अक्षर ब्रह्मके हुकुमसे द्यावा पृथिवी अपने अपने स्थान में स्थिर रहते हैं। इसी अक्षर ब्रह्मके हुकुम से निमेष, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, संवत्सर इत्यादि काल के अवयव अलग रहकर कालमान बतलाते हैं। इसी अक्षरब्रह्म के हुकुमसे श्वेत (हिमालय) पर्वतसे कोई पूर्वगामी, कोई पश्चिमगामी और अन्य नदियां उन उन दिशाओं में बहती हैं। इसी तरह इस अक्षर ब्रह्म के हुकुम से मनुष्य दाताओंकी, देव यजमानोंकी और पितर दर्वी होमोंकी प्रशंसा करते हैं। जो इस अक्षर ब्रह्म को बिना जाने हवन करता है , यज्ञ करता है, सहस्रवर्षतक तपाचरण करता है, वह उसका समूचा कर्म अंतवत् होता है। जो इस अक्षर को जानेबिना इसलोक में मरण पाता है, वह कृपण (दीन) है। परंतु जो इसको जानकर मृत्यु पाता है, वह सच्चा ब्राह्मण है। वह यह अक्षर अदृष्ट परंतु द्रष्टृ (देखनेवाला) अश्रुत परंतु श्रोतृ (श्रवण करनेवाला ,अमत परंतु मंतृ (मनन करनेवाला), अविज्ञात परंतु विज्ञा (जाननेवाला) है। इसके सिवाय दूसरा कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता अथवा विज्ञाता नहीं है। गार्गी ! ऐसे इस अक्षरब्रह्म में आकाश ओतप्रोत है।

यह सब सुनकर गार्गी बोली- हे ब्राह्मणगण! इस याज्ञवल्क्यको प्रणाम करके तुम मुक्त हुवे, तो उतनाही बहुत समझो। तुममें से इसको ब्रह्मज्ञानमें जीतने के लिये कोई समर्थ नहीं। ऐसा कहकर वाचक्नवि गार्गी चुप हो गई।

(७) इसके बाद अरुण उद्दालक ने पूछा, कि हे याज्ञवल्क्य! हम मद्र देशमें पंतचल के घरमें यज्ञशास्त्र का अध्ययन करते हुए रहते थे। उस पंतचल की भार्या के शरीरमें अथर्वपुत्र कबंध नामका गंधर्व आता था। उसने पंतचल को और हम याज्ञिकोंको कहा, "क्या तुम उस सूत्रको जानते हो, जिसमें कि यह लोक, परलोक तथा समस्त प्राणिमात्र गुंथे हुए हैं ?" पंतचलने कहा कि हम नहीं जानते। उस गंधर्व ने फिरसे पूछा, " क्या तुम उस अंतर्यामी को जानते हो, कि जो इस लोक, परलोक तथा सारे प्राणिमात्र में रहकर इन सब का नियमन करता है ? " पंतचलने कहा; कि हम उसको भी नहीं जानते। इसपर वह गंधर्व बोला- उस सूत्रको और उस अंतर्यामी को जो जानता है, वह ब्रह्मवेत्ता,देववेत्ता,भूतवेत्ता,आत्मवेत्ता सर्ववेत्ता होता है। यह ज्ञान मैं जानता हूं, हे याज्ञवल्क्य !

उस सूत्रको और उस अंतर्यामी को विना जाने तुम यदि ब्रह्मज्ञानी की ये गाएं ले जाओगे, तो तुम्हारा मस्तक टूट पडेगा।

याज्ञ०-उस सूत्रको और उस अंतर्यामी को मैं जानता हूं।

उद्दालक- ऐसा कोई भी मुंहसे कह देगा, कि मैं जानता हूं, मैं जानता हूं; तुम बतलाओ क्या जानते हो।

याज्ञ०- हे गौतम! वह सूत्र वायु है। यह लोक, परलोक तथा सकल भूतमात्र इस वायुरूपी सूत्र में गुंथे हुए हैं। इसलिए मरे हुए आदमी के बारे में कहते हैं, कि इसके गात्र शिथिल होगए हैं (टूटे हुए हैं), क्यों कि ये गात्र वायुरूपी सूत्रमें गुंथे रहते हैं।

उद्दालक- ठीक है अब बतलाओ, कि अंतर्यामी कौन है।

याज्ञ०- जो पृथ्वी में रहता है, परंतु जो पृथ्वी से निराला है, जिसको पृथ्वी जानती नहीं, जिसका शरीर पृथ्वी है, जो भीतर रहकर पृथ्वीका नियमन करता है, ऐसा यह तुम्हारा अमर आत्मा अंतर्यामी है। इसीतरह जो उदक, अग्नि, अंतरिक्ष वायु, द्युलोक, आदित्य, दिशा, चंद्र, तारिका, आकाश, तम, तेज (इत्यादि अधिदेवतों में) संपूर्ण भूतोंमें (अधिभूतोंमें), प्राण, वाचा, चक्षु, मन, त्वचा, विज्ञान, रेत (अध्यात्म में) रहता है, परंतु जो इन सबसे निराला है, जो इन सबके अंदर रहकर सबका नियमन करता है, ऐसा यह तुम्हारा अमर आत्मा अंतर्यामी है। यह अदृष्ट होकर द्रष्टा है, अश्रुत होकर श्रोता है, अमत होकर मन्ता है, अज्ञात होकर ज्ञाता है। सिवाय इसके कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता विज्ञाता नहीं है। ऐसा यह तुम्हारा अमर आत्मा अंतर्यामी है। इसके अतिरिक्त सब कुछ विनाशी है।

इसपर अरुण पुत्र उद्दालक चुप हो गया।

(इसके बाद विदग्ध शाकल्य ने देवता विषय प्रश्न पूछे।

विदग्ध- हे याज्ञवल्क्य! देव कितने हैं?

याज्ञ०- तीनसौ तीन, अथवा तीन हजार तीन

विदग्ध- देव कितने हैं?

याज्ञ०-तेहतीस, छः, तीन, दो, डेढ, एक।

विदग्ध- इसका खुलासा कीजिये।

याज्ञवल्क्य- ३०३, ३००३ देवकी विभूति हैं। देव ३३ हैं-आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारा आदित्य, इन्द्र और प्रजापति, ऐसे ३३ हैं। अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चंद्रमा और नक्षत्र- ऐसे आठ वसु हैं। इनमें यह सब (जगत्) स्थापित है। इसलिए इनको वसु कहते हैं। दस प्राण (पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय) और आत्मा अर्थात् मन ऐसे ग्यारह रुद्र हैं। ये जब (मरण कालमें) मर्त्य शरीरमें से ऊपर जाते हैं, तब रुलाते हैं, इसलिये ये रुद्र हैं। संवत्सरके बारह महीने द्वादश आदित्य हैं। ये सब (प्राणियों के आयुष्य) ले जाते हैं, इसलिये ये आदित्य हैं। मेघ (गर्जना करनेवाला) इंद्र है और यज्ञ प्रजापति है।

अग्नि, वायु, पृथ्वी, अंतरिक्ष, आदित्य और द्यौ मिलकर छः देव हैं। ये छः ही सब कुछ हैं।

ये तीन लोक ही तीन देव हैं। इन्हीं में ये सब देव है।

अन्न और प्राण ऐसे दो देव हैं।

वायु डेढ देव है; क्यों कि इसमें यह सब कुछ वृद्धि पाता है (अधि आर्ध्नोत् ऋद्धिं प्राप्नोति इत्य-ध्यर्धम्) इसलिए डेढ।

प्राण एक देव है। वही ब्रह्म है। उसको त्यत् (वह) ऐसा परोक्ष रीतिसे कहते हैं। यही पृथ्वी, आकाश, तम, तेज, आप, इत्यादि सबको व्यापकर सबका अंतर्यामी है।

अच्छा होता, यदि इतने ही प्रश्नोत्तर होकर समाप्ति हो जाती। परंतु विदग्धने फिरसे प्रश्नमालिका शुरू कर दी। उसके उन निरर्थक सात आठ प्रश्नोंके उत्तर याज्ञवल्क्यने दिए। आखिर क्रोधमें आकर उन्होंने विदग्धसे कहा, कि उपनिषदों में जिसका वर्णन है, उस अक्षर पुरुषको तुम न जानते

हो; तो तुम्हारा मस्तक टूट पडा। विदग्ध शाकल्य को उसका ज्ञान नहीं था, इसलिये उसका मस्तक टूक पडा। इस तरह यह परिषद शोक पर्यवसायी हुई। अंतमें याज्ञवल्क्य ने कहा- हे ब्राह्मणगण! तुममेंसे जिसकी इच्छा हो, वह मुझे प्रश्न करे अथवा सब मिलकर पूछें; अथवा तुम मेंसे जिसकी इच्छा हो, उसको अथवा तुम सबको मैं पूछता हूं। परंतु इसपरे प्रत्युत्तर करनेका किसी भी ब्राह्मणको धैर्य न हुआ। तब उन सब के साम्हने खडे होकर याज्ञवल्क्य ने यह कूटप्रश्न रखा -पुरुष यथार्थ में वनस्पति अथवा वृक्ष सरीखा है लोम उसके पत्ते और त्वचा उसकी छाल है। पुरुष की त्वचासे खून बहता है और वृक्ष की छालसे गोंद निकसती है। मांस इस वृक्षके स्तर हैं और स्नायु अंतर्भाग हैं। अस्थि भीतरके काष्ठ हैं और मज्जा मज्जाही हैं। वृक्षको काटनेपर वह फिरसे जडसे फूट कर निकलता है; वैसे मृत्युने काटा हुआ मनुष्य किस मूलीसे पुनरपि उत्पन्न होता है? रेतसे मत कहो, क्योंकि यह जीवित मनुष्यसे उत्पन्न होता है। वृक्ष मरनेपर बीजसे दूसरा उत्पन्न होता है। मूली और बीज दोनों नष्ट किए जांय; तो वृक्ष फिरसे उत्पन्न नहीं होता। परंतु मृत्युने मारा हुआ मनुष्य फिर किस मूली से उत्पन्न होता है? तुम कहोगे; कि वह जन्मा हुआही है; परंतु यह बात नहीं है। वह मरनेपर भी फिरसे उत्पन्न होता है इसके मरने के बाद इसको फिरसे कौन जन्म देता है। इसका उत्तर कोइ न दे सका। इसलिए सबसे याज्ञवल्क्य का श्रेष्ठत्व सिद्ध हुआ।

(१३) याज्ञवल्क्य की तात्विक चर्चा।

विदेह देशके राजा जनक अपने सिंहासनपर बैठे थे, उनके पास याज्ञवल्क्य गए। उनको देखकर जनक बोले- हे याज्ञवल्क्य! यहां कैसे आये? क्या गायों की इच्छा रखकर अथवा सूक्ष्म प्रश्नोत्तर करने आए हैं?

याज्ञवल्क्य- मैं दोनों कामोंके लिये आया हूं। तुम्हें जो कोई उपदेश किया गया हो; वह मुझे पहिले सुनने दो।

जनक- जित्वा शैलिनी ने मुझे बतलाया है, कि (१) वाक् ही ब्रह्म है। उदंक शोल्बायन ने बतलाया, कि (२) प्राण ही ब्रह्म है। बर्कु वार्ष्णि ने बतलाया, कि (३)चक्षु ही ब्रह्म है। गर्दभी विपीतने बतलाया, कि(४)श्रोत्र ही ब्रह्म है। सत्यकाम जाबालने बतलाया, कि (५) मन ही ब्रह्म है। विदग्ध शाकल्याने बतलाया, कि (६) हृदय ही ब्रह्म है।

याज्ञवल्क्य- राजा! इस प्रत्येक आचार्य ने तुम्हें केवल ब्रह्मका एकही पाद (चतुर्थांश) बतलाया है। बाकी तीन पाद बतलाए या नहीं?

जनक- नहीं। वे आप बतलाइये।

याज्ञवल्क्य- राजा, सुनो! (१) 'वाक् ही ब्रह्म है;' इसमें वाक् अथवा वाणी आयतन (शरीर) है, आकाश प्रतिष्ठा (आश्रय) है, प्रज्ञारूपसे इस ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिए। वाणी ही प्रज्ञा है। (२) 'प्राण ही ब्रह्म है; इसमें प्राण आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, प्रियरूपसे इस ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। प्राण ही प्रियता है। (३) 'चक्षु ही ब्रह्म है;' इसमें चक्षु आयतन और आकाश प्रतिष्ठा है, सत्यरूपसे इस ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये। चक्षुही सत्यता है। (४) 'श्रोत्र ही ब्रह्म है;' इसमें श्रोत्र आयतन और आकाश प्रतिष्ठा है, अनन्त रूपसे इस ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए। दिशा ही अनन्तता है। (५) 'मन ही ब्रह्म है; इसमें मन आयतन और आकाश प्रतिष्ठा है, आनंद रूपसे इस ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये। मन ही आनंदता है। (६) 'हृदय ही ब्रह्म है;' इसमें हृदय आयतन और आकाश प्रतिष्ठा है, स्थितिरूपसे इस ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। हृदय ही स्थिततता है।

इस प्रकार प्रत्येक आचार्यके ब्रह्मोपदेशके विषय में और उनके पादोंके विषयमें याज्ञवल्क्य चर्चा कर रहे थे, तब राजा जनक प्रसन्न होकर कहने लगे, "मैं तुम्हें एक हजार गौएं देता हूं;जिनमें हाथी सरीखा एक बैल (सांड) है।" परंतु याज्ञवल्क्य बोले, "मेरे पिता का ऐसा अभिप्राय था (और मेरा भी है,) कि शिष्य को ज्ञान देकर कृतार्थ किये विना उससे कुछ लेना नहीं।"

जनक राजा अपने कूर्चासन से उठे, याज्ञवल्क्यके समीप आए, (अभिमान छोडकर) उनको नमस्कार किया और बोले, 'हे याज्ञवल्क्य ! मुझे उपदेश कीजिये !

याज्ञ०- राजा ! दूर की सफरको जानेवाला मनुष्य रथ या नाव लेता है, इसी तरह तुम उपनिषदोंसे- उसमें जो ज्ञान है उससे- युक्त हुए हो। सिवाय इसके तुम पूज्य तथा संपन्न हो। क्या तुम्हें मालूम है, कि ऐसे तुम देहपात होनेपर कहां जाओगे ?

जनक- मुझे नहीं मालूम कि मैं कहां जाऊंगा। आप बतलाइये।

याज्ञ०- दाहिने नेत्र में जो पुरुष है, उसका नाम इंध है। यह दीप्तिमान् होनेके कारण इसको अप्रत्यक्षता से इन्द्र कहते हैं। बांयें नेत्रमें जो पुरुषरूप विराट् है, वह उसकी पत्नी है। हृदय के अन्तर्भाग में जो आकाश है, वह इनका एकत्र होनेका स्थान है; हृदय में जो रक्तपिंड है, वह उन दोनोंका अन्न है। हृदयकी नाडियोंका जो छिद्रोंका जाल है, वह उनका ओढना है। हृदयसे ऊपर जानेवाली जो नाडी है, वह इनके संचारका मार्ग है। हृदयमें एक बाल के सहस्रांश बराबर सूक्ष्म ऐसी हिता नामक नाडियां रहती हैं। उनमेंसे यह (रक्त अथवा अन्न) घूमता रहता है। इसलिए इस (जड) शरीरकी अपेक्षा, अत्यंत सूक्ष्म आहार करनेवाला यह लिंगशरीर अतिशय सूक्ष्म रहता है। पूर्व दिशा उनके पूर्वतरफ के प्राण हैं, दक्षिण दिशा दक्षिण तरफके; पश्चिम दिशा पश्चिम तरफके उत्तर दिशा उत्तर तरफके; ऊर्ध्व दिशा ऊर्ध्व और अधर दिशा अधर प्राण हैं। सकल दिशा प्राण हैं। आत्मा 'नेति नेति' (यह नहीं, यह नहीं) ऐसा है। वह अगृह्य है, उसका ग्रहण करते नहीं बनता; वह अशीर्य है उसका नाश कर नहीं सकते; वह असंग है, वह आसक्त नहीं होता; वह असित है, वह व्यथा अथवा विनाश नहीं पाता। हे जनक! यह जानकर तुम अभय हुए हो।

जनक- आप जो मुझे अभयका (ब्रह्मका) ज्ञान करा देते हैं, इससे मालूम होता है, कि आप भी अभय ही हैं। आपको मेरा नमस्कार हैं। यह मैं और यह विदेह देश आपही के हैं।

किं ज्योतिरयं पुरुषः ?

[पुरुष का प्रकाश कौनसा है ?]

एक समय याज्ञवल्क्य जनक के यहां गए थे। उनकी कोई संभाषण करने की इच्छा न थी, केवल मुलाकात करनेका उनका इरादा था। परंतु पहिले एक अग्निहोत्र के प्रसंग में जनक को चाहे वह प्रश्न पूछने का याज्ञवल्क्यने वर दिया था; इसलिये जनकने याज्ञवल्क्य को ऐसा प्रश्न किया, कि इस पुरुषका (व्यवहारका साधन हो ऐसा) प्रकाश कौनसा है ?

याज्ञ०- हे सम्राट् ! आदित्य उसका प्रकाश है। आदित्य के योगसे पुरुष बैठता है, काम करता है, वापिस आता है।

जनक- हे याज्ञवल्क्य! ठीक है। परंतु आदित्य का अस्त होनेपर इस पुरुष का प्रकाश कौनसा ?

याज्ञ०- चंद्र। चंद्रके प्रकाशसे पुरुष बैठता है, उठता है, अपने काम करता है, वापिस आता है इत्यादि।

जनक- ठीक है; परंतु आदित्य का और चंद्र का भी अस्त हो, तब इस पुरुषका प्रकाश कौनसा है ?

याज्ञ०- अग्नि। अग्नि (दीपक) के प्रकाश से पुरुष अपने सब काम करता है।

जनक- ठीक है। परंतु सूर्यचंद्रके अस्त होनेपर और अग्निके शान्त होनेपर (बुझ जानेपर) इस पुरुषका प्रकाश कौनसा है ?

याज्ञ०- वाक् ! वाणीके योगसे (ध्वनि के संधान से) पुरुष अपने काम करता है।

जनक- ठीक है; परंतु सूर्यचंद्रके अस्त होनेपर तथा अग्नि और वाणी के शान्त होनेपर इस पुरुषका प्रकाश कौनसा है ?

याज्ञवल्क्य- आत्मा । आत्माके प्रकाशसे यह अपने काम करता है ।

जनक- वह आत्मा कौनसा ?

याज्ञ०-यह जो प्राणमें(इंद्रियोंमें)विज्ञानमय और हृदयमें(बुद्धिमें)अन्तर्ज्योति अथवा स्वप्रकाशी और पूर्ण, सर्वव्यापी है;वह यह समान है और मानो(ध्यायतीव लेलायतीव) ध्यान करता हुआ और क्रीडा करता हुआ दोनों लोकोंमें संचार करता रहता है। यही पुरुष शरीरभाव पाकर जन्म लेता है और पाप-पुण्यरूपी गुणोंसे युक्त होता है। इसकी दो अवस्था (१)सुषुप्तावस्था (२)जागृतावस्था है। इन दोनोंके बीचमें ३ स्वप्नावस्था है। इस स्वप्नावस्थामें वस्तुतः रथ अश्व मार्ग, आनंद हर्ष अथवा प्रहर्ष, कुंवां तलाव नदियां इत्यादि कुछ नहीं रहता, परन्तु यह सब, अपने तेजसे वह निर्माण करता और देखता है। जिस तरह बडा मत्स्य नदीके दोनों किनारों के बीच में रहनेवाले पानी में संचार करता है, उसी तरह यह आत्मा सुषुप्ति और जागर के मध्य में रहनेवाली स्वप्नावस्था में विहार करता है। जैसे पक्षी आकाश में खूब उडकर थक जाता, तब पंख सकोडकर अपने घोंसलेकी ही ओर आता है, वैसेही यह पुरुष व्यवहार करके थक जाता, तब अपने आखिरी (सुषुप्त) स्थानको विश्रांति के लिये जाता है ।

बहुत भारी सामान से भरी हुई गाडी आवाज करती हुई चलती है, वैसे यह आत्मा मरणसमय में आवाज करता हुआ देह से निकल जाता है । जैसे आम अथवा पीपल का वृक्ष अपनी रसयुक्त जडसे टूट पडता है,वैसा यह पिण्ड जरासे अथवा ज्वरादिकसे कृश होनेपर प्राण से छूटकर दूसरा प्राण धारण करने के लिये निकल जाता है। जैसे राजा आ रहा है यह देखकर उसके लिये कोटवार, सिपाही, गाडीवाले, मालगुजार, मुकद्दम इत्यादि लोग व्यवस्था करते हैं, वैसेही 'यह ब्रह्म आ रहा है' ऐसा देखकर सारी इंद्रियां अपने कर्म के भोक्ता की-आत्माकी मार्गप्रतीक्षा और व्यवस्था करती हैं । अंतकाल में हृदय का अग्रभाग प्रकाशित होता है और उसमेंसे आत्मा बाहर पडकर चक्षु, मस्तक अथवा अन्य किसी अवयवमेंसे निकल जाता है । इसके बाद प्राण और बाकीकी इंद्रियां निकल जाती हैं। विशिष्ट ज्ञानके साथ यह जाता है। ज्ञान, कर्म और पूर्व में अनुभव की हुई वासना उसके साथ जाती है । जैसे तृणके ऊपर बैठी हुई जोंक पहिले तृणको छोडकर दूसरे तृण का आश्रय करती है; अथवा जैसे सुनार सुवर्ण का टुकडा लेकर उससे कुछ दूसरा नया सुंदर रूप तैयार करता है; उसी तरह यह आत्मा पूर्वके शरीरका त्याग करके पितर, गंधर्व अथवा देवता की योनि में रूप का आश्रय करता है ।

यह आत्मा ब्रह्म है । यह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथ्वीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय तेजोमय, अतेजोमय, काममय,अकाममय क्रोधमय अक्रोधमय धर्ममय अधर्ममय, सर्वमय, प्रत्यक्षमय,परोक्षमय है। वह जो पाप अथवा पुण्यकर्म करता वैसाही होता है। पुण्यकर्म करनेवाला पुण्यवान् होता है, पापकर्म करनेवाला पापी होता है, इसलिए यह पुरुष 'काममय' कहलाता है । उसको जैसी इच्छा होती, वैसा क्रतु (निश्चय) वह करता है, जैसा निश्चय करता, वैसा कर्म करता है, जैसा कर्म करता वैसा फल पाता है । जिसको इच्छा नहीं, जिसकी इच्छा नष्ट हुई अथवा पूर्ण हुई है, अथवा आत्मा में विलीन है, ऐसे पुरुष के प्राण उत्क्रमण नहीं पाते, वह ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म को जाता है : यह सबका स्वामी सबका अधिपति है । पुण्यकर्मों से यह वृद्धि नहीं पाता और पापकर्मों से क्षीण नहीं होता । यह सर्वेश्वर, भूताधिपति और भूतपाल है। ब्रह्मलोक आदि लोकोंको स्थिर रखनेवाला यह सेतु है । ब्राह्मण इसको वेदाध्ययन से, यज्ञसे, दान से, तपसे जाननेकी इच्छा करते हैं । जो इसको जानता, वह मुनि होता है । इसको जानने की

इच्छा से संन्यासी संन्यास लेते हैं। यह आत्माही हमारा लोक है। ऐसे हम लोगों को प्रजा(संतति) से क्या मतलब है? ऐसा विचार करके वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणाका त्याग करके भिक्षाचरण करते हैं। यह आत्मा अगृह्य, अशीर्य, असंग, अविनाशी है। इसको जाननेवाला शांत, दांत उपरत, तितिक्षु, समाधानयुक्त होता है और अपने ही में आत्मस्वरूप देखता है। ऐसे को कोई पाप ताप नहीं देता। सकल पापोंको यह भस्म कर देता है। पापरहित, इच्छारहित और संशयरहित ऐसा यह ब्रह्मज्ञ होता है। यही ब्रह्मलोक है। हे राजन्! तुम इस लोक में आए हो।'

यह सब सुनकर जनक ने कहा, 'हे भगवन्! मैं आपको समग्र विदेह देश देता हूं और स्वयं मैं आपका दास होता हूं।'

(१५) मैत्रेय-आदेश।

याज्ञवल्क्य को कात्यायनी और मैत्रेयी ऐसी दो भार्याएं थीं। कात्यायनी सर्वसाधारण आर्य स्त्रियों-सरीखी गृहकृत्यों में दक्ष थी और मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी! याज्ञवल्क्य को ऐसी इच्छा हुई, कि मैत्रेयी गृहस्थाश्रम छोडकर वानप्रस्थ आश्रम का स्वीकार करे। उन्होंने मैत्रेयी से कहा 'हे मैत्रेयी! मैं यह आश्रम छोडकर जानेवाला हूं, इसलिए मैं अपनी संपत्ति का बटवारा कात्यायनी और तुम में कर देता हूं।' मैत्रेयी बोली- 'हे भगवन्! वित्त से भरी हुई सारी पृथ्वी मुझे मिल जाय तो क्या मैं उससे अमर हो जाउंगी?' याज्ञवल्क्य ने कहा- 'नहीं नहीं! संपत्ति के योग से तुम्हारा जीवित किसी सर्वसाधनसंपन्न श्रीमान् धनिकके सदृश होगा; परंतु वित्तके द्वारा अमरत्व- मोक्ष मिलने की आशा नहीं।' तब मैत्रेयी बोली, 'वित्तसे यदि अमरत्व-मोक्ष नहीं मिलता, तो उसको लेकर मुझे क्या करना है? अमरत्व का कुछ साधन आपको मालूम हो, तो मुझे वह बतलाइए।' याज्ञवल्क्य ने कहा- 'तुम मुझे प्रिय हो; परंतु तुम्हारे इस भाषण से तुम मुझे अधिकही प्रिय मालूम होती हो। आओ, मेरे पास बैठो और मैं जो कुछ कहता हूं उसे ध्यानपूर्वक सुनो और उसपर भली भांति मनन करो।' [ऐसे प्रश्नोत्तर अथवा संभाषण कितने पतिपत्नी में होते होंगे?]

याज्ञवल्क्यने कहा- 'हे मैत्रेयी! पतिके काम के लिये भार्याको पति प्रिय नहीं, किंतु स्वतःके लिए पति प्रिय लगता है। भार्या के कामके लिये भार्या पतिको प्रिय नहीं मालूम होती, किंतु स्वतःके ही लिये वह प्रिय मालूम होती है। पुत्रोंके लिये पुत्र प्रिय नहीं लगते, किंतु स्वतःकेही लिये प्रिय लगते हैं। इसी तरह वित्त, ब्रह्म (ब्राह्मण वर्ग), क्षत्र (क्षत्रिय वर्ग), लोक, देव, भूतगण और सर्व यह सब कुछ उस उसके लिये नहीं, किंतु स्वतःकेही लिये- अर्थात् आत्मा के लिये प्रिय मालूम होते हैं। ऐसा वह आत्मा हे मैत्रेयी! देखना चाहिये; उसका श्रवण, मनन, निदिध्यास करना चाहिये। आत्माका दर्शन, श्रवण, मनन, और निदिध्यास करनेसे यह सब विज्ञात होता है।

पतिनिमित्त प्रिय है पति तुझको, भाषण यह अयथार्थ। छोडि अहंता जान अपनको, है प्रिय सबही स्वार्थ ॥

[वामन पंडितकी प्रियसुधा देखो-
पतिनिमित्त पती तुजला प्रिय। प्रिय असे म्हणतां सहसा नये ॥ परम आवड आपुलि आपणा। वळख तूं तुज टाकुनि मीपणा ॥ इत्यादि]

जो ऐसा समझता है, कि स्वतःसे अर्थात् आत्मासे ब्राह्मण निराले हैं, उसको ब्राह्मण दूर करते हैं। जो ऐसा समझता है, कि स्वतःसे अर्थात् आत्मासे क्षत्रिय अलग हैं, उसको क्षत्रिय अलग करते हैं। इसी तरह जो ऐसा समझता है, कि स्वतःसे लोक, देव, वेद, भूत सर्व भिन्न हैं उसको लोक, देव, वेद, भूत, सर्व दूर करते हैं। ये ब्राह्मण, ये क्षत्रिय, ये लोक, ये देव, ये भूत, ये सब आत्माही हैं। दुंदुभि, शंख, वीणा

बजाये जांय, तो उनमेंसे निकलनेवाले ध्वनि का ग्रहण करते नहीं बनता। परंतु उन वाद्योंका अथवा उनके बजानेवालोंका ग्रहण करनेसे उस ध्वनिका ग्रहण होता है। इसी तरह एक आत्मा का ज्ञान होनेसे बाकी सब कुछ ज्ञान होता है। गीले इंधन से सिलगाए हुए अग्नि से धूम्र जैसे सर्वत्र फैलता है, उसी तरह चारों वेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, मंत्रसूत्र, विवरण, व्याख्यान, इष्ट, हुत, आशित, पायित (क्षुधा,तृष्णा निवारण करने का पुण्य), इहलोक, परलोक और समस्त भूतगण इस महान् भूतके (परमात्मा के) निःश्वास हैं। जिस प्रकार समस्त उदकों का एकायन (निवासस्थान) समुद्र है, सकल स्पर्शोंका एकायन त्वचा है, सकल गंधोंका एकायन नासिका है, सकल रसोंका एकायन जिह्वा है, सकल रूपों का एकायन चक्षु है, सकल शब्दोंका एकायन श्रोत्र है,समस्त सकल्पोंका एकायन मन है समस्त विद्याओंका एकायन हृदय है, समस्त कर्मोंका एकायन हस्त है, सारे मार्गोका एकायन पैर है, सारे आनंदोंका एकायन उपस्थ है, सारे विसर्गों का एकायन पायु (गुदद्वार) है और संपूर्ण वेदों का एकायन वाक् है, उसी प्रकार यह आत्मा सबका, सकल विश्वोंका एकायन है। निमक की डली पानी में डालने से घुल जाती और सब पानीको व्यापती है, उसी तरह हे मैत्रेयी! यह महद्भूत,आत्मा अनंत, अपार, विज्ञान, घन और सर्वव्यापी है। निमककी डली पानी में घुल जानेपर पानी से अलग नहीं रहती; इसी तरह मनुष्य मृत्यु के पश्चात् जब आत्मतत्त्व में लीन हो जाता है, तब उसकी अमुक ऐसी संज्ञा नहीं रहती।

मैत्रेयी– आपका यह भाषण-शरीरपात होनेपर संज्ञा नहीं रहता इत्यादि सुनकर मैं मोहमें पड गयी।

याज्ञ०–मोहमें पाडनेवाला वचन मैं नहीं बोलता; किंतु मेरा कहना आत्मज्ञान की प्राप्ति करा देनेवाला है। यदि (मनमें) द्वैत होगा, तो एक दूसरेको देखेगा, दूसरेका का गंध लेगा, दूसरे से बोलेगा, दूसरे का सुनेगा, दूसरेके विषयमें मनन करेगा, दूसरे को स्पर्श करेगा और दूसरे को जानेगा। परंतु जिसको यह सब आत्मा ही हो गया, वहां कौन किसको देखेगा, किसका सुगंध लेगा, किससे बोलेगा, किसका सुनेगा, किसको स्पर्श करेगा, किसको जानेगा ? जिसके द्वारा यह सब जाना जाता है, उसको (श्रवण, मनन, निदिध्यास से) कैसे जान सकते हैं ?

इस प्रकारसे अपनी पत्नीको उपदेश करके, उसको आत्मज्ञान की प्राप्ति कराके याज्ञवल्क्यने वानप्रस्थाश्रम लेनेके हेतु घरसे प्रयाण किया।

(१६) इंद्र-प्रतर्दन-संवाद

(प्रज्ञात्मन्)

दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन युद्धसे और पराक्रम से इंद्र के प्रियधाम को अर्थात् स्वर्ग को गया। इंद्रने उसको कहा'हे प्रतर्दन!मैं तुम्हें एक वर देता हूं। तम्हें जो चाहिये वह मांग लो।' प्रतर्दन बोला, 'मनुष्यके लिये अत्यंत हितकर जो वर तुम समझते हो, वही मुझे दे दो।' इंद्रने कहा, 'दूसरेके लिये कोई वर पसंद नहीं करता, तुम अपना पसंद करलो और मांग लो।' प्रतर्दन बोला, 'ऐसा है, तो मुझे वर देकर न दिये के बराबर होगा।' इंद्र सत्यसे अपनी प्रतिज्ञा से च्युत नहीं हुआ; क्यों कि वह सत्य ही (सत्यरूप) है। इन्द्रने कहा,' तुम मुझे ही (आत्माको)जानो, मुझे जानना ही मानव के लिये अत्यंत हितकर है, ऐसा मैं समझता हूं। त्वष्टा के तीन सिरवाले पुत्रको मैंने मारा। वेदाध्ययन रहित अरुन्मुखोंका मैंने वृकोंका भक्ष्य बनाया। बहुतसे सुलहनामोंको तोडकर स्वर्गमें प्रल्हाद के अनुयायियोंको, अन्तरिक्ष में पुलोमक अनुयायिओंको और पृथ्वीपर कालखंजों को मैंने मारा।

परंतु मेरा एक बालभी टेढा न हुवा। जो मुझे जानता है, उसका लोक (कर्मफल) नष्ट नहीं होता। मातृवध, पितृवध, चौर्य, भ्रूणहत्या इत्यादि पापोंसे भी उसका कर्मफल नष्ट नहीं होता। उसके मुख का तेज किसीभी पापसे नष्ट नहीं होता।'

इंद्रने कहा– 'मैं प्राण हूं; मैं प्रज्ञात्मा हूं। उस मेरी आयुष्य और अमरत्व समझकर उपासना करो। आयुष्य ही प्राण है, प्राण ही आयुष्य है. प्राण ही अमरत्व है। क्यों कि जबतक शरीरमें प्राण है, तबतक आयुष्य रहता है। प्राणसेही परलोक में अमरत्व की प्राप्ति होती है। प्रज्ञा से सत्यज्ञान होता है।'

प्रतर्दन– प्राण (इंद्रियां-इंद्रियशक्ति) एकत्र होकर काम करते हैं; क्यों कि एकही समय में वाचासे नाम, चक्षु से रूप, कान से शब्द समझाते नहीं बनते, अथवा मनसे विचार नहीं किया जा सकता। एकत्र होकर प्राण इनमें से एक एक कार्य करते हैं। यह बात सच है ना कि वाचा के बोलते हुए चक्षु के देखते, हुए कानोंके सुनते हुए, मनके विचार करते हुए, प्राण (सकल इंद्रियशक्ति) उन उन इन्द्रियोंके साथ काम करते हैं?

इंद्र– हां! परंतु सब इंद्रियों में प्राण श्रेष्ठ हैं। ऐसे मनुष्य जीवित रह सकते हैं, कि जिनको वाचा नहीं अथवा दृष्टि नहीं अथवा जिनको कान नहीं अथवा जिनको मन नहीं, अथवा जिनको हाथ या पैर नहीं हैं। क्योंकि हम गूंगे अंधे बहिरे, पागल, लूले, लंगडे आदमी देखते हैं। इसलिये प्राण ही प्रज्ञात्मा है; यही इस शरीरको उत्थित करता है। इसलिये इसको 'उक्थ' समझकर इसकी उपासना करनी चाहिये। जो प्राण है, वही प्रज्ञा है, जो प्रज्ञा है वही प्राण है। ये दोनों इस शरीरमें साथ ही रहते हैं और शरीरमेंसे साथही निकल जाते हैं; क्यों कि गाढ निद्रामें मनुष्य प्राणोंसे ऐक्य पाता है। इसी तरह वह प्राणमें लीन होनेपर, वाणी समस्त नामोंके साथ, चक्षु सब रूपोंके साथ, श्रोत्र समूचे शब्दोंके साथ, मन संपूर्ण विचारोंके साथ प्राणों में जाते हैं। जब वह नींदसे जाग उठता है, तब जैसे प्रज्वलित अग्निमेंसे स्फुलिंग उडते हैं वैसे आत्मासे उठकर प्राण (सूक्ष्म इंद्रिय) अपने अपने स्थानको जाते हैं। सूक्ष्म इंद्रियोंसे इंद्रियशक्ति और उसके लोक (विषय) का उद्भव होता है। मनुष्य जिस समय आसन्नमरण अथवा मूर्च्छित होता है, तब वाचा, दृष्टि, श्रोत्र आदि इंद्रियां प्राणमें लीन होती हैं, और जब प्राण शरीर छोडकर जाता है, तब वह इन सबके साथ निकल जाता है। इस तरह प्राणमें सर्वाप्ति होती है। जो प्राण है, वही प्रज्ञा है, जो प्रज्ञा है, वही प्राण है। ये दोनों शरीरमें साथ साथ रहते और निकल जाते हैं।

उस प्रज्ञाका एक अंग वाक् है, जिसने कि प्रज्ञा का एक अंश स्वाधीन करके 'नाम' ऐसी बाह्य भूतमात्रा (विषय) को निर्माण किया। इसी तरह चक्षु, जिह्वा, नाक, श्रोत्र इत्यादि इंद्रियोंने प्रज्ञाका एक एक अंश स्वाधीन करकेरूप, रस, गंध, शब्द इत्यादि भूतमात्रा (विषय) को निर्माण किया। इस प्रकार प्रज्ञाका द्विधा विभाग हुआ है। परंतु प्रज्ञाके सिवाय केवल इंद्रियोंको अपने अपने विषयका ग्रहण करते नहीं बनता। प्रज्ञा जब इंद्रियोंपर आरोहण करती है, तब इंद्रियां अपने अपने विषय जान सकती हैं। प्रज्ञासे वियुक्त (रहित) इंद्रियां अपने काम नहीं कर सकती। मनुष्य कहता है, कि 'मेरा मन दूसरी तरफ था, इस लिये मैंने रूप, रस, गंध आदि विषयोंको जाना नहीं।' प्रज्ञा जब हाजिर रहती है, तब मनुष्य वाचासे नामका, आंखोंसे रूपका, कानोंसे शब्दका, मनसे विचारोंका ग्रहण कर सकता है।

वाचाको जानने की इच्छा न करके वक्ता को जानना चाहिये। गंधको न जानकर घ्राताको, रूप न जानकर द्रष्टाको, शब्द न जानकर श्रोताको, कर्म न जानकर कर्ता को जानना चाहिये। वस्तुतः

ये दस भूतमात्रा (पांच कर्मेन्द्रियों तथा पांच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय) प्रज्ञामें स्थित हैं, और दस प्रज्ञामात्रा (पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा पांच कर्मेन्द्रिय भूतमें स्थित हैं; अर्थात् ये परस्पर सापेक्ष हैं। भूतमात्रा न हों, तो प्रज्ञामात्रा न रहेंगी और प्रज्ञामात्रा न हों, तो भूतमात्रा न रहेंगी; क्योंकि इन दोनोंमेंसे केवल एकसे कोई रूप सिद्ध नहीं होता। परंतु इन दोनोंमें भिन्नत्व नहीं है। जैसे रथचक्र की नेमि अरोंमें रहती है, अरा नाभी में रहती है, वैसेही ये भूतमात्रा प्रज्ञामात्राओंमें स्थित हैं और प्रज्ञामात्रा प्राणमें स्थित हैं। वह प्राण ही प्रज्ञात्मा है। वह आनंद अजर और अमर है। वह शुभ कर्मसे वृद्धि नहीं पाता अथवा अशुभ कर्मसे क्षय नहीं पाता। जिसको इस लोक मेंसे ऊपर ले जानेकी उसकी इच्छा हो, उससे वह अच्छे कर्म कराता है, और जिसको नीचे लानेकी उसकी इच्छा हो, उससे वह बुरे कर्म कराता है। वही लोकों का पालन कर्ता, लोकों का अधिपति, वही सबका स्वामी, वही मेरा आत्मा है- ऐसा जानना।

(१७) घमंडी बालाकि।

उशीनर देशका निवासी गार्ग्यगोत्री बालाकि नामक एक गर्विष्ठ तरुणने वेदाध्ययन करके ख्याति पाई थी। मत्स्य, कुरु, पांचाल, काशी, विदेह इत्यादि देशोंमें घूमते घूमते वह काशी के राजा अजातशत्रुके यहां आया और उसने राजा को कहा, "मैं तुम्हें ब्रह्म (ज्ञान) बतलाता हूं" अजातशत्रु बोला, "तुम्हारे इस भाषण पर मैं एक हजार गौवें तुम्हें देता हूं; क्योंकि सब लोग जनक का नाम लेकर उसीके पास दौडते हैं।"

बालाकिने कहा "यह, जो आदित्यमें पुरुष है, उसको ब्रह्म जानकर मैं उसकी उपासना करता हूं।" यह सुनकर अजातशत्रुने कहा, "इस संबंधमें तुम मुझे ज्यादा कहो (सिखाओ) मत; क्यों कि यह मुझे मालूम है। वह समस्त भूतोंमें श्रेष्ठ, बडा, शुभ्रवस्त्रयुक्त, सकल भूतोंका अधिपति है, ऐसा जानकर मैं उसकी उपासना करता हूं; और जो इस प्रकार उसकी उपासना करता है, वह सर्वश्रेष्ठ सर्वभूताधिपति होता है।"

इसके बाद बालकिने कहा, कि 'चंद्र विद्युत्, मेघ, वायु, आकाश, अग्नि, उदक इत्यादि अधिदैवत (देवताविषयक) पदार्थोंमें तथा आदर्श, प्रतिध्वनि, शब्द, छाया, शरीर,प्रज्ञा, दाहिनी और बांयीं आंख इत्यादि अध्यात्म (आत्मविषयक) पदार्थोंमें जो पुरुष है, उसको ब्रह्म जानकर मैं उसकी उपासना करता हूं।" परंतु प्रत्येक बार जब अजातशत्रुने बतलाया, कि बालाकि की ब्रह्मकी कल्पना संकुचित है, और यह जतलाया, कि मैं इन उपासनाओं को जानता हूं, और यह भी बतलाया कि किस तरह करता हूं और उनका फल कैसे मिलता है, तब बालाकि की आंखें खुल गईं और उसके घमंडका पारा नीचे उतरा। उसको स्तब्ध देखकर अजातशत्रुने कहा "हे बालाकि! क्या इतनाही तुम्हारा (ब्रह्म) ज्ञान है?'

बालाकिने कहा, "हां इतना ही है।"

अजातशत्रु-तब तुमने झूठी ही गप्प मार दी कि "मैं ब्रह्मज्ञान बतलाता हूं"। हे बालाकि! तुमने बतलाए हुए इन पुरुषोंका जो कर्ता, जिसने यह सब कुछ उत्पन्न किया है, उसीका ज्ञान कर लेना चाहिये।

इसपर बालाकि हाथमें समिधा लेकर अजातशत्रु की शरणमें गया और बोला, 'हे भगवन्! मैं शिष्यभावसे आपके पास आया हूं, मुझे दीक्षा (ज्ञान) दीजिये।' अजातशत्रुने कहा, 'यह विपरीत होगा, कि क्षत्रिय ब्राह्मण को शिष्य बनाकर

इसी तरह वह प्राणमें लीन होनेपर, वाणी समस्त [illegible]

उपदेश करे। परंतु वह रहने दो। चलो, मैं तुम्हें ज्ञान बतलाता हूं।" ऐसा कहकर अजातशत्रुने उसका हाथ पकडा और दोनों एक निद्रित पुरुषके पास आए। अजातशत्रुने उस पुरुषको पुकारा, 'हे बृहन् पांडरवास सोम राजन्! उठो!' परंतु वह पुरुष वैसाही स्तब्ध निद्रित रहा। तब अजातशत्रुने उसको लकडीसे (कौषीतक्युपनिषद् अ० ४), हाथसे (बृहदारण्यकोपनिषद् अ० २) हिलाया। तुरंत ही वह उठकर खडा हुआ। अजातशत्रुने बालाकिसे कहा, 'हे बालाकि! यह पुरुष (आत्मा) कहां सोया था, कहां गया था, और कहांसे आया?' बालाकि यह कुछ न जानता था। अजातशत्रुने कहा, "एक बालके सहस्रांशके बराबर सूक्ष्म, पिंगल, शुक्ल, कृष्ण, पीली, लाल रंगकी 'हिता' नामकी नाडियां हृदयसे निकलकर 'पुरीतत' नामके हृदयवेष्टनतक फैली रहती हैं। पुरुष जब गाढ निद्रामें रहता है, तब वह इन नाडियोंमें रहता है और प्राणसे एकरूप होता है। उस समय सकल नामोंके साथ साथ वाचा, सकल रूपोंके साथ चक्षु, सकल शब्दोंके साथ श्रोत्र, संपूर्ण विचारोंसहित मन उसमें लीन होता है। जब वह जागता है, तब जैसे प्रज्वलित अग्निसे सब दिशाओंमें स्फुलिंग उडते हैं वैसे इस आत्मासे प्राण- इंद्रिय अपने अपने स्थानोंमें जाते हैं। इंद्रियोंसे इंद्रियशक्ति और उससे विषय (शब्दादि) निकलते हैं। जैसे क्षुर (छुरा) अपने ढक्कनमें, अथवा अग्नि अग्निकुंडमें व्यापकर रहता है; जैसे घरमालिककी राहसे घरमें सब लोग चलते हैं, वैसे सारी इंद्रियां इस आत्माकी राहसे बर्ताव करती हैं।

घरका मालिक अपने आश्रितोंके साथ भोजन करता है और ये आश्रित लोग उसीका अन्न खाते हैं, इसी तरह यह आत्मा इंद्रियोंसहित भोग भोगता है और वे इन्द्रियां आत्माके आश्रयसे भोग भोगते हैं। इन्द्रको जबतक यह ज्ञान नहीं था, तबतक असुरोंने उसका पराजय किया; परंतु जब इसको यह ज्ञान प्राप्त हुआ तब उसने असुरोंको जीतकर सकल देवोंमें श्रेष्ठत्व, निरंकुशत्व और स्वामित्व संपादन किया। इसी तरह जो कोई यह ज्ञान प्राप्त कर लेगा, उसके सारे पाप नष्ट होंगे और वह सकल भूतोंमें श्रेष्ठ, निरंकुश और अधिपति होगा।

(१८) श्रद्धावान् नचिकेता।

वाजश्रव नामके एक धनिकने 'विश्वजित्' नामक यज्ञ किया, जिसमें कि सर्वस्वका दान दिया जाता है। नचिकेता नामक उसका एक पुत्र था। वाजश्रव धूर्त होनेके कारण उसने दान देनेके लिये गाएं हिकमतसे चुनकर निकालीं। ये गाएं बूढी पुरानी, सूखी हुई, बेकाम, निरुपयोगी थीं। इन गौओंका दान हो गया और उन्हें लेकर ब्राह्मण जब घर जाने लगे, तब यह बात कुमार नचिकेताको पसंद न हुई। उसके मनमें श्रद्धा उत्पन्न हुई और उसने सोचा कि ऐसा कपट करनेसे, अर्थात् निरुपयोगी गौओंका दान देनेसे बुरा ही फल मिलेगा अर्थात् इससे आनंदरहित लोक प्राप्त होंगे। ऐसा विचार करके वह अपने पितासे बोला, "हे तात! तुम मेरा दान किसको देओगे?" पिताने कोई जवाब न दिया, तब उसने यही प्रश्न दो तीन बार फिरसे किया। इससे चिडकर पिताने कहा "मैं तुझे मृत्युको दे डालता हूं।' क्रोधके आवेशमें पिताके मुंहसे ये शब्द जरूर निकल गए; परंतु शीघ्रही उसको पश्चात्ताप हुआ। तथापि नचिकेता सच्चा था। उसने आग्रह किया कि अपने वचनके अनुसार पिता मुझे मृत्युके स्वाधीन कर दे। उसने पिताको मना लिया और उसकी संमतिसे नचिकेता यमके घरको गया। उस समय यमराज घरमें न थे। तीन दिनतक (अहोरात्र) नचिकेता यमके घरमें भूखा रहा। वापिस आनेपर यमको घरके लोगोंने कहा, कि एक ब्राह्मणकुमार अतिथि अपने घर आया है, वह तीन दिनसे भूखा है;

उसको अर्घ्यदान और अन्न देकर उसका समाधान करना चाहिये, अन्यथा वह शाप देकर नुकसान करेगा। यमने उस अतिथिका योग्य रीतिसे स्वागत किया और तीन दिनका उपवास होनेसे तीन वर मांगनेका उसको आदेश दिया। नचिकेताने पहिला वर इस तरह मांगा, कि 'मेरे पिताका क्रोध चला जाय, मैं वापिस जाऊं तब मुझे वह पहिचाने और पहिले सरीखा हमारा सुलह हो- सारांश यह कि, मेरा पिता संतुष्ट हो' यमने तुरंत यह वर दे दिया। दूसरे वरसे उसने स्वर्गसाधनभूत ऐसा अग्निज्ञान मांगा। वह भी यमने तुरंत दे दिया। उस ज्ञानका शीघ्र ग्रहण नचिकेताने किया देखकर यम संतुष्ट हुआ और बोला, 'यह अग्नि तुम्हारे नामसे प्रसिद्ध होगा, अर्थात् इस नचिकेताअग्नि कहेंगे।' इसके बाद यमने कहा, कि अब तीसरा वर मांगो। नचिकेताने कहा- 'मेरा तीसरा वर यह है, कि मनुष्य मरने पर कोई कहते हैं कि वह है और कोई कहते हैं कि वह नहीं (नष्ट होता है); इसके विषयमें बोध करके इसका निर्णय तुम मुझे बतलाओ।"

यम- इस प्रश्नके विषयमें पूर्वकालसे देवताओं को भी संशय है। यह प्रश्न बहुत सूक्ष्म है, समझने लायक नहीं है। इसको छोडकर तुम कोई दूसरा वर मांगो।

नचिकेता- यह बात सच है, कि पूर्वकालसे देवताओंको इस विषयमें संशय था और इसका समझना बहुत कठिन है; परंतु इस विषयका समझानेवाला तुम्हारे सरीखा दूसरा कोई न मिलेगा, और मैं नहीं समझता कि इसके समान कोई भी दूसरा वर है।

यम- तुम चाहे तो शतायु पुत्रपौत्र मांगो, पशु, हाथी, अश्व, सुवर्ण मांग लो; पृथ्वीका बृहत् मंडल मांग लो और जी चाहे उतने वर्षतक जियो, संपत्ति मांगो, दीर्घायुष्य मांगो, राज्य मांगो। तुम्हारी सब कामना मैं पूर्ण करता हूं। इस मृत्युलोकमें दुर्लभ ऐसे कामभोग तुम्हारे मांगते ही तुम्हें मिलेंगे। रथ और वाद्योंके [illegible] अप्सरा मांगो; मनुष्योंको ये नहीं मिलती। तुम्हारी इच्छा हो तो उनसे मैं तुम्हारी सेवा कराता हूं; परंतु मरणके विषयमें प्रश्न मत करो।

नचिकेता- हे अन्तक! ये संपूर्ण भोग आज हैं, कल नहीं, अर्थात् क्षणिक हैं। सिवाय इसके ये सारे इंद्रियोंका तेज क्षीण करते हैं। सबका (किंबहुना ब्रह्मदेवका भी) आयुष्य अल्प है; इसलिये वाहन और नृत्यगीत तुम्हारे तुम्हीं को रहें। धनसे मनुष्यकी तृप्ति नहीं होती। तुम्हारे दर्शन से और प्रसादसे चाहे उतना धन और आयुष्य मुझे मिलेगा। परंतु ये मुझे नहीं चाहिये, मुझे वह मेरा वरही चाहिये। यह जानने पर, कि गानवाद्यनरतिसे होनेवाला आनंद नश्वर है, और यह ज्ञान होनेपर, कि अजर अमर देवोंके पास जाकर उनसे इन बातोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट प्राप्तव्य (प्रयोजन) साध्य होनेसरीखा है, ऐसा कौनसा जरामरणयुक्त और नीचे पृथ्वीपर रहनेवाला प्राणी अतिदीर्घ जीवितमें रममाण होगा? इसलिये हे मृत्यो! आत्माके महत्त्वपूर्ण ऐसे परलोकसंबंधका निर्णायक ज्ञान मुझे बतलाओ। यद्यपि यह गहन है, तथापि इसके सिवाय मैं दूसरा वर न मांगूगा।

यमने जब देखा, कि अपने मोहजालमें नचिकेता नहीं फंसता और अपने प्रलोभनकी पर्वा नहीं करता, तब उसको बहुत संतोष हुआ, और इसके लिये इसकी प्रशंसा करके यमने उसको उपदेश देना प्रारंभ किया।

यम- श्रेय (श्रेयस्कर अथवा कल्याणकारक) और प्रेय (प्रियकर अथवा सुखदायक) ऐसे दो भिन्न मार्ग अथवा बातें हैं। बुद्धिमान् मनुष्य इनकी योग्य परीक्षा करके इनमेंसे श्रेय पसंद करता है और मंदबुद्धिवाला प्रेय पसंद करता है। तुमने प्रेयका मार्ग छोडकर श्रेयका मार्ग स्वीकृत किया, यह ठीक हुआ। अब मैं आत्माके अमरत्व और अविनाशित्व के विषयमें कहता हूं, वह सुनो। प्रमादशील तथा वित्तमोहसे मूढ और विवेकहीन लोगोंको परलोक नहीं दिखता। जो यह समझते हैं

कि जो कुछ है यही लोक है; दूसरा है ही नहीं, वे बारबार मेरे कबजे में आते हैं। यह आत्मा जन्म नहीं लेता और न मरता है। यह किसी दूसरे से उत्पन्न नहीं हुआ। वह जन्मरहित, नित्य, क्षय-रहित और वृद्धिरहित है। शरीर का वध हुआ तो भी इसका वध नहीं होता। इसको न कोई मार सकता और न यह मरता है। परंतु जिसको आत्मज्ञान नहीं हुआ ऐसे लोगोंमेंसे कोई कोई शरीर धारणाके लिये योनीमें प्रवेश करते हैं और कोई वृक्षादि स्थावर भाव को पाते हैं। जैसा कर्म किया हो और जैसा ज्ञान संपादन किया हो वैसी अवस्था उन्हें प्राप्त होती है। एक सौ एक नाडियां हृदयसे निकलती हैं,उनमें एक नाडी है जो मस्तकको भेदकर जाती है। उसके द्वारा ऊपर जानेवाला (प्राणत्याग करनेवाला) अमर होता है। बाकी की नाडियों से प्राणत्याग करनेवाले पुनर्जन्म पाते हैं, मनुष्यके हृदय में जो कामनाएं हैं,वे सब नष्ट होनेपर मनुष्य अमर होता और इसी देहमें ब्रह्मरूप होता है।

आत्मा रथी (रथका मालिक) है। शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है और मन लगाम है। इंद्रियां अश्व हैं और विषय उनके मार्ग हैं। जिसका मन काबू में नहीं रहता और जिसका बुद्धिरूपी सारथी अकुशल रहता है, उसकी इंद्रियां अडियल टट्टू सरीखी वश में नहीं रहती। परंतु जिसका मन काबू में रहता है और बुद्धिरूपी सारथी कुशल रहता है, उसकी इंद्रियां अच्छे घोडेसरीखी सारथीके वशमें रहती हैं। जिसका मन काबूमें नहीं रहता, जो बुद्धिरहित है, जो सदा अपवित्र रहता है, उसको परम पदकी प्राप्ति नहीं होती; उसको बार बार संसारमें आना पडता है। परंतु जिसका मन काबूमें रहता है, जो बुद्धिसे युक्त है, सर्वदा पवित्र रहता है, उसको परम पद की प्राप्ति होती है और फिर उसका जन्म (अत एव मरणभी) नहीं होता।

इंद्रियोंकी अपेक्षा इंद्रियों के अर्थ (विषय) श्रेष्ठ हैं। इंद्रियोंके अर्थों से मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धिसे महान् आत्मा श्रेष्ठ है। उससे भी अव्यक्त श्रेष्ठ है, अव्यक्तसे पुरुष श्रेष्ठ है, पुरुषसे श्रेष्ठ कोई वस्तु नहीं है। यही अंतिम और श्रेष्ठ गति है! यह पुरुष- आत्मा समस्त भूतमात्रों में गूढ रहता है, प्रगट नहीं रहता। केवल एकाग्र और सूक्ष्म बुद्धिद्वारा इसका दर्शन (ज्ञान) होता है। सूज्ञ मनुष्यको चाहिए कि वह वाणी का (समस्त इंद्रियों का) मनमें लय करे; मनका ज्ञानात्मा में, ज्ञानात्मा का महानात्मा में और महानात्मा का शान्तात्मा में लय करे; इसलिए हे जीवगण! उठो, जागो, श्रेष्ठ आचार्यके पास जाकर आत्मज्ञान प्राप्त कर लो। छुरी की तीक्ष्ण धारपर चलने सरीखा यह मार्ग आक्रमण करनेको कठिन जरूर है परंतु हमें वह आक्रमण करना चाहिए। इसका (आत्मज्ञानका) श्रवण करनेवाले थोडे रहते हैं; श्रवण करके समझनेवाले इससे भी थोडे, और पूर्ण ज्ञाता से उपदिष्ट ऐसा क्वचित् ही एकाध मिलता है। समस्त वेद जिसका प्रतिपादन करते हैं, समूचे तप जिसका वर्णन करते हैं, जिसकी इच्छा रखकर ब्रह्मचर्यव्रत का आचरण किया जाता है, वह ॐ (प्रणव) है। यही अक्षर ब्रह्म है, यही परम अक्षर है। इसका ध्यान करना, इसको जानना ही ब्रह्मप्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। यह आत्मा श्रवण से प्राप्त नहीं होता, बुद्धिसे अथवा पांडित्यसे प्राप्त नहीं होता। यह आत्मा जिसको पसंद करता है, उसीको वह अपना ज्ञान देता है और स्वरूप बतलाता है। पापकर्मसे जो परावृत्त नहीं हुआ, भोग से जो उपरत नहीं हुआ, जो एकाग्रचित्त नहीं अथवा जो अशांत है, ऐसे पुरुषको ज्ञानके भी योग से आत्मप्राप्ति नहीं होती। यह पुरुष (आत्मा) अंगुष्ठप्रमाण है और भूतभविष्यपर स्वामित्व रखता हुआ शरीर में रहता है। यह धूमरहित प्रकाशस्वरूप है। यह नित्य है; यही ब्रह्म है। मुंज नामक घासमेंसे उसकी शलाका जैसे अलग निकालते हैं, वैसेही आत्माको धैर्यपूर्वक शरीरसे पृथक् करना चाहिये (शरीरसे भिन्न है, ऐसा जानना चाहिए।) इस लोकमें देहपात के पहिलेही आत्मा को जानले तभी मनुष्य जन्म मृत्यु से रहित होता है। अन्यथा

यह संसारके चक्करमें पड जाता है। शब्द स्पर्श रूप रस गंध रहित, अनादि, अनंत, अव्यक्त, नित्य महत्तत्व से श्रेष्ठ और शाश्वत ऐसा जो तत्व अर्थात् ब्रह्म है, वह जाननेसे मनुष्य जन्ममरणसे मुक्त होता है।

इस प्रकार यमने नचिकेता को बतलाया हुआ यह नातन उपाख्यान (दूसरोंको) बतलाने से अथवा श्रवण करने से बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मलोकमें श्रेष्ठत्व पाता है, जो कोई यह अत्यंत गुह्य आख्यान शुचिर्भूत होकर ब्राह्मण सभाको अथवा श्राद्धसमय में सुनावेगा; उसको अनंत फलकी प्राप्ति होगी।

समता।

मुक्त आत्मा के लक्षण हैं- ज्ञान, निष्कामता, अव्यक्तित्व, समता, आंतरिक शांति अथवा आनंद और त्रिगुणातीतत्व। इसलिये उसके अखिल कर्मों में ये सब गुण रहने ही चाहिये। दुनिया के सब आघातों में, सब द्वंद्वों में, सब उथलपुथल में इस प्रकार का आत्मा जिस निश्चल शांतभाव का रक्षण करता है, उसके लिये उक्त गुणों की नितांत आवश्यकता है। सब तरह के परिवर्तनों में भी ब्रह्म का जागृत ऐसा जो सम अक्षर भाव है, उसी की परछांव मुक्तात्मा का यह शांत भाव है। बहुरूपी विश्व में जो अखंड एकत्व चिरकाल अनुस्यूत है, उसीका यह शांत भाव है। क्यों कि जगत् के असंख्य भेदों में और विषमता में यही एक ब्रह्म समता का रक्षण करता है और ब्रह्म की समताही एकमेव सच्ची समता है। क्यों कि जगत् के अन्य विषयों में केवल सादृश्य अथवा मेल रह सकता है; परन्तु जगत् में सबसे अधिक सदृश वस्तुसमूह में भी हमें असमता अथवा भेद दिख पडता है; तथा विषमवस्तुसमूह में भी परस्परों से सुसंबद्धता देखकर ही जगत् में मेल उत्पन्न किया जा सकता है।

यही कारण है, कि कर्मयोग के लक्षणों में समता पर इतना अधिक जोर गीताने दिया है। दुनियासे मुक्तात्मा जिस स्वतंत्रतासे संलग्न होता है, उसका संधिस्थल यही समता है। जबतक मुक्त पुरुष आत्मज्ञान, निष्कामता, अव्यक्तित्व, आनंद, त्रिगुणातीतत्व के साथ संसार से परावृत्त होकर केवल आत्मानंद में संतुष्ट रहता है, तबतक समता की आवश्यकता रहती ही नहीं; क्यों कि समता और विषमता का द्वंद्व जिस वस्तुमात्र में रहता है, उन सब वस्तुओं से वह दूर ही रहता है। परंतु जिस क्षण में आत्मा का प्रकृति के बाहुल्य से, व्यक्तिगत भेदवैषम्य से संबंध आता है, तभी मुक्त स्थिति के अन्य गुणों को समता के द्वारा कार्यकारी करना पडता है। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म से एकत्व की अनुभूति ही ज्ञान है। संसार की अनेक भिन्न वस्तुओंके संसर्ग में रहकर इस ज्ञान का सत्यत्व जान लेना हो, तो सब से समान एकत्व का अनुभव करना चाहिये। एक अक्षर आत्मा का नामरूप अनेकविध है; आत्मा की सत्ता सर्वनामरूपातीत है और यही उसका अव्यक्तित्व है। संसार के भिन्न नामरूपोंसे आत्मा का जो अव्यक्तित्व व्यवहारमें प्रकट होता है, वह सबसे सम तथा निरपेक्ष व्यवहार करके प्रकट होता है। परंतु यह बात नहीं है, कि सबसे एकही प्रकारका व्यवहार करना चाहिये। जैसा जिससे संबंध हो, वैसा उससे व्यवहार करना चाहिये। अवस्था और संबंधके भेदानुसार व्यवहारके भी अनेक प्रकार जरूर होते हैं; परंतु सब व्यवहारोंमें अंतःकरणको सम और निरपेक्ष रखकर आचरण करना चाहिये। श्रीकृष्णने गीतामें कहा है-

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजंन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ ९।२९

"मुझे कोई भी न प्रिय है और न अप्रिय है। सबके विषयमें मुझमें समभाव है; तथापि जो मेरे भक्त हैं, उनपर मेरी विशेष दया है' क्यों कि इस प्रकारके व्यक्ति भगवान्से जो संबंध जोडते हैं, वह निराला ही रहता है। सबका प्रभु और एकही एक पक्षपातशून्य भगवान् है। जो जिस भावसे उसकी ओर जाता है, उसको वह उसी भावसे

ग्रहण करता है। संसारका भिन्न भिन्न काम्यवस्तु-समूह आत्माको बद्ध करना चाहता है। असीम आत्मा बंधनातीत रहता है और यही उसकी निष्कामता है। जब आत्माको इस सब वस्तुओंके सान्निध्यमें आना पडता है, तब सब वस्तुओंसे एकसी उदासीनता रखकर और सब वस्तुओंपर समान और निरपेक्ष प्रेम रखकर उसे अपनी निष्कामता प्रकट करनी चाहिये। आत्माका आनंद स्वप्रतिष्ठित है, वह किसी बाह्य वस्तुके लाभ-अलाभपर निर्भर नहीं रहता। वह स्वरूपतः अचल और अक्षय है। संसारकी संगतिमें रहकर भी जीवको यह आनंद प्राप्त करना हो, तो इसी समताके मार्गसे आत्मा उसका मुक्त स्वरूप प्रकट कर सकता है।

आत्मा स्वभावतः प्रकृतिके नित्य चंचल और विषम गुणसमूहोंकी क्रियाके परे है; और यही आत्माका त्रिगुणातीतत्व है। इस आत्माको यदि प्रकृतिके विषम और द्वंद्वपूर्ण कार्यसे संलग्न होना हो, आत्मा यदि स्वतःके स्वभावको किसी प्रकार का कर्म करने देगा, तो समस्त कर्मोंपर, समूचे फलोंपर, सारी घटनाओंपर निरपेक्ष समभाव ही के द्वारा आत्माका त्रिगुणातीतत्व प्रकट होगा।

समता जैसे दिव्यकर्मीका एक लक्षण है, उसी तरह इस मार्गमें अग्रसर होनेवालोंकी वह परीक्षा भी है। आत्मामें यदि विषमताका भाव होगा, तो वासनाका खेल, व्यक्तिगत इच्छा, अनुभूति और कर्मका खेल, सामान्य सुख-दुःख अथवा चांचल्य और अतृप्त ऐसा सामान्य आनंदका खेल-यह सब प्रकृतिका विषम खेल कुछ न कुछ दिखता है। जहां आत्माकी असमता है, वहां ज्ञानच्युति है; सर्वव्यापी सर्वसमन्वयकारी ब्रह्मसे एकत्वानुभूतिके विषयमें दृढता और पूर्णताका अभाव है। इसी समताके द्वारा कर्मयोगी अपने कर्ममें भी यह अनुभव लेता है, कि मैं मुक्त हूं।

गीताने जो समताका विधान दिया है, उसका स्वरूप बहुतही उच्च और व्यापक है। यही समताका आध्यात्मिक स्वरूप इस विषयमें गीताकी शिक्षाका विशेषत्व है। क्योंकि हृदयकी, मनकी, चित्तकी समता अत्यंत वांछनीय है, ऐसा सभी लोग मान्य करते हैं। ऐसा नहीं है कि यह उपदेश केवल गीताही में हो। इस समताकी अवस्थामें हम मनुष्यकी स्वाभाविक दुर्बलताके परे रहते हैं। समताकी सर्वदा यह प्रशंसा हुई है, कि वह ज्ञानीजनोचित स्वभावका और सुखी जीवनका आदर्श है। गीताने इस आदर्शका ग्रहण किया है, और भी उसको अधिक श्रेष्ठ स्वरूप और उच्च स्थान दिया है। इंद्रियाकर्षणके भंवरमेंसे, वासनाकी क्षुब्धतासे निवृत्त होकर आनंदलाभ करना हो, तो आत्माको जिस अवस्थामेंसे जाना पडता है, उसकी पहिली अथवा दूसरी सिढी है— कृच्छ्र अथवा स्तोइक समता *(Stoic Poise) अथवा दार्शनिक या विचारलब्ध समता (Philosophic Poise)। कृच्छ्रसाधन अथवा कठोर सहिष्णुताके द्वारा

---

* सुखदुःखबोध और कुछ नहीं है, केवल अंतःकरण की दुर्बलता है। इस दुर्बलता का नाश करके मनोबलसे सुखदुःखोंको जीतना चाहिये, ऐसा इस ग्रीक स्तोइक संप्रदायका मत है। यह भाव मानो उद्दाम राक्षसोंकी तपस्या है। इसको महत्व भी है और मानवी उत्कर्ष साधनमें इसकी आवश्यकता भी है; परंतु यह दुःखोंपर विजय-प्राप्तिका सच्चा उपाय नहीं है। इस प्रकारके दुःखनिग्रहसे मनुष्यका अंतःकरण शुष्क, कठोर और प्रेमशून्य हो जाता है। ऐसे कृच्छ्रसाधनोंमें उन्नतिको स्थायिकता नहीं है। तपस्यामें शक्ति जरूर है; परंतु इस जन्ममें जो हम दबाकर रखते हैं, वह दूसरे जन्ममें दुगने वेगसे उछलकर बाहर आता है। गीता कहती है, "प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।" गीता जिस समताकी शिक्षा देती है, वह समता स्तोइक समतासे बहुत ऊंची है। गीताकी समतामें अंतःकरण शुष्क नहीं होता; उसमें भोगके लिये जगह है। गीतोक्त साधनामें समतावाद तथा शांत अथवा शुद्ध भोग एकही मार्गमें है; तथापि गीतोक्त समतालाभकी साधनामें स्तोइक समताके द्वारा प्रथमावस्थामें कदाचित् थोडा बहुत साहाय्य हो सकता है। ग्रंथमें भी यह विषय विशद किया है।

आत्मविजय प्राप्त होता है- यह लौकिक समता की बुनियाद है। इसकी अपेक्षा दार्शनिक समता शान्तिमय और सुखप्रद है; ज्ञानलब्ध आत्मजय ही दार्शनिक समताकी बुनियाद है। हमारे प्राकृतिक विषयवस्तुसमूहके बारेमें उदासीन रहकर मानसिक विचारके द्वारा (उदासीनवदासीनः) यही समता प्राप्त की जा सकती है। सदासर्वकाल भगवान्‌की इच्छा शिरोधार्य माननेका भाव भी एक प्रकार समता ही है। इस समताको भाव-समता अथवा क्रिश्चन् समता कह सकते हैं। दिव्य शान्ति प्राप्त कर लेनेके ये तीन उपाय हैं अथवा सिढ़ियां हैं- (१) वीरोचित वृत्तिसे सारे कष्टोंको सहन करना, (२) ज्ञानके द्वारा उदासीन वृत्तिका अवलंबन करना, (३) भक्तिवश होकर भगवान्‌को आत्मसमर्पण करना- 'तितिक्षा' 'उदासीनता' 'नम्रता (नति)'। गीताने अपनी उदार समन्वय-रीतिके अनुसार इन तीनों अवस्थाओंका ग्रहण किया है और आत्मोन्नतिके उपायोंमें उन्हें योग्य स्थान दिया है। किंतु उनका स्वरूप अधिकाधिक उच्च और व्यापक किया है; क्यों कि गीताने इन तीनों अवस्थाओंको आत्मशक्तिका ही आधार दिया है और वह आध्यात्मिक सत्ताका सामर्थ्य केवल चरित्रबलकी अपेक्षा महत्तर, मनोवृत्तिसे भी श्रेष्ठतर और अंतःकरणके आवेगसे भी विशाल है।

सामान्य मानवात्मा अपने प्राकृत जीवनके अभ्यस्त कोलाहलमें सुख पाता है। यह सुख उसे मिलता है, इसलिये और यह सुख मिलनेसे वह अधःप्रकृतिके इस अशान्त खेलका साथ देता है इस लिये यह खेल चिरकाल तक चलता है। क्यों कि प्रकृति अपने प्रणयी पुरुषके अनुमतिके सिवाय कोई कर्म नहीं करती। हम यह सत्य नहीं मान सकते; क्योंकि वस्तुतः जब विपत्ति हमपर आ गिरती है, तब शोक, यातना, अस्वस्थता, दुर्भाग्य, पराजय, निंदा, अपमान इत्यादिके द्वारा जर्जर होकर उस आघातसे मन पीछे हटता है। इसके विपरीत जब सुखमय संपत्ति हमसे लिपटती है, तब संतोष, सौभाग्य, आनंद, जय, गौरव इत्यादिको आलिंगन देनेके लिये मन जोरसे उछलता है। परंतु इससे उस आनंदमें कोई न्यूनाधिक नहीं होता, जो कि संसारलीलामें आत्माको होता है। योद्धा अपनी जखमोंकी वेदनामें शारीरिक सुखका अनुभव नहीं करता; पराजयसेभी उसको मानसिक संतोष नहीं होता। परंतु युद्धमें उसको पूर्ण आनंद आता है; युद्धमें विजयकी जो आशा रहती है, उसके लिये पराजयकी संभाव्यता स्वीकृत करनेको वह तैयार होता है और जिसमें आशाआकांक्षका मिश्रण है, ऐसे युद्धके लिये उसका प्राण आनंदसे डुलने लगता है। इतना ही नहीं, किंतु अपनी जखमोंकी वेदनाओंका स्मरण करके भी वह सुख और वैभवका अनुभव लेता है- जखम जब नहीं रहती, तब यह सुखानुभूति पूर्ण रहती है; परंतु जखमोंके वेदनाकालमें भी अनेक समयों-पर सुखकी अनुभूति रहती है और यह सुख वेदनाबोधहीके द्वारा पुष्ट होता है। पराजयमें भी उसमें इस सुखका, गौरवका ज्ञान रहता है; और ऐसे प्रसंगपर वह बलाढ्य शत्रुसे भी सामना करनेको हिचकिचाता नहीं। यदि वह क्षुद्र प्रकृतिवाला होगा, तो पराजयके कारण उसमें जो द्वेष और बदला लेनेकी बुद्धि उत्पन्न हुई हो, उसमें भी वह एक प्रकार निष्ठुर आनंदका उपभोग लेगा। इसी प्रकारसे जगत्‌के सामान्य खेलोंमें आत्मा आनंदका ग्रहण करता है।

व्यथा अथवा यातनाओंके भयसे मनुष्य विपत्ति अथवा उत्पातोंसे दूर होनेकी इच्छा करता है। आत्मरक्षणकी नीति (जुगुप्सा) कार्यकारी करनेके लिये यही प्रकृतिका कौशल्य है। व्यथा अथवा यातनाके विषयमें यह जो मनमें तिरस्कार रहता है, उसीके कारण मनुष्य रक्तमांसके इस भग्नप्रवण देहको विनाकारण ध्वंसप्रवृत्त नहीं करता और इसीलिये वह आत्म-हत्यासे बचा रहता है। जीवनके बारेमें उपकारी स्पर्शसमूहसे मनुष्य सुख पाता है और यह राजसी स[illegible] लोभ बतलाकर ही प्रकृति मनुष्यको जडत

तामसिकतासे खींचकर कर्मप्रवृत्त करती है और मनुष्यके जय-पराजय, द्वंद्व, वासना, कामना के द्वारा स्वतः का हेतु सिद्ध करती है। हमारा अंतरात्मा इस द्वंद्वमें भी सुख पाता है; किंबहुना वह विपत्तिमें वेदनामें भी एक प्रकार सुखका अनुभव लेता है। भूतकालीन स्मृतिमें यह सुख बहुत कुछ पूर्ण रह सकता है। परंतु वर्तमानकालीन विपत्ति-यातनाओं में भी वह सुखबोध रहता है और अनेक समयोंपर वह विलक्षण रीतिसे प्रकट होकर विपद्ग्रस्त मनुष्यकी वेदनामें धैर्य उत्पन्न करता है। परंतु जगत्के इस सुखदुःखमिश्रित खेलको हम जीवन कहते हैं। उन्हीं सबके द्वारा वस्तुतः आत्मा आकृष्ट होता है। वास्तविक देखा जाय, तो जीवनकी सब वासनाएं, राग, द्वेष, आशा, आकांक्षा, जीवन का सर्वविध वैचित्र्य ही आत्माको आकर्षित करता है। हमारे राजसिक वासनामय आत्माको एकही प्रकारका सुख अच्छा नहीं लगता; युद्धके बिना जिसमें विजय है, जिस सुखमें विच्छेद नहीं, दुःखकी छाया नहीं; ऐसे सब सुखोंमें राजस आत्मा बहुत दिनोंतक संतुष्ट नहीं रहता; उनसे शीघ्र ही वह ऊब जाता है। पीछे अंधकारकी छाया न हो, तो प्रकाशका पूर्ण रीतिसे आस्वाद लेना इस प्रकारके आत्माको संभवनीय नहीं; क्योंकि इस आत्माको जिस सुखोपभोगकी इच्छा रहती है, वह सुखभोग विपरीत दुःखभोग ही पर अवलंबित रहता है। विपरीत दुःखका आस्वाद लिये बिना उसको सुख का आस्वाद नहीं मिलता। ऐसे आत्माके सुखोपभोगका स्वरूप ही ऐसा सापेक्ष है। हमारा मन जिस जीवनलीलामें सुख पाता है, उसका गूढ रहस्य ही ऐसा है, कि हमारा आत्मा द्वंद्वके खेलमें एक प्रकार आनंदका अनुभव लेता है।

मनको यदि कहा जाय, कि इन सब द्वंद्वोंको छोडकर शुद्ध आनंदमय आत्माके अमिश्र सुखमें प्रविष्ट होना चाहिये, उसके सब द्वंद्वोंमें यह आत्मा ही उसको शक्ति देता है, उसका अस्तित्व स्थिर रखता है; तो यकायक उस पुकारसे मन निवृत्त होगा। वह इस प्रकारके शुद्ध आत्माके अस्तित्व पर विश्वास ही न रखेगा; और यदाकदाचित् विश्वास रखे, तो उस प्रकारकी उच्च अवस्थामें जीवन नहीं है; संसारके वैचित्र्यमय खेलमें जो मजा है, वह मजा इस अवस्थामें नहीं है, ऐसा वह समझेगा; अथवा उसको यह अनुभव आवेगा, कि इस उच्च अवस्थामें प्रविष्ट होनेके लिये जिन कठिण प्रयत्नोंकी आवश्यकता है, वे प्रयत्न अपने काबूके बाहर हैं; और फिर ऐसे प्रयत्नोंसे वह परावृत्त होगा। वस्तुतः वासनामय आत्मा आशा के जो स्वप्न देखता है, उन्हें सफल करनेकी अपेक्षा यह आध्यात्मिक उन्नतिका साधन कुछ कठिन नहीं है, अथवा इस प्रकारका आत्मा अपनी वासनाओं की तृप्तिके लिये चंचल वस्तुके पीछे उन्मत्त होकर लग जाता है; और जो विलक्षण प्रयत्न और श्रम करता है, उसकी अपेक्षा अध्यात्मिक उन्नतिके लिये उसे वस्तुतः कोई विशेष परिश्रम अथवा कष्ट नहीं करने पडते। उसकी अनिच्छाका कारण यही है, कि वह जिस अवस्था में है, उसको छोडकर जिस एक उच्च और शुद्धतर अवस्थामें जाना है, उस अवस्थाके आनंद का स्वरूप उसके ध्यानमें नहीं आता; किंबहुना, इस आनंदस्थितिकी सत्यतापर उसका अधिक विश्वास नहीं रहता। क्षुद्र दर्जेका अशुद्ध प्रकृतिका जो आनंद है, उसीसे वह परिचित रहता है और वही उसके ध्यानमें अच्छी तरह आता है। यह बात नहीं है, कि यह निम्न स्थितिका आनंद एकदम सदोष अथवा अग्राह्य हो; हमारी प्राकृत सत्ता (Material Being) तामस अज्ञान अथवा जडताके सर्वस्वी आधीन है। इस अवस्थासे ऊंची रहनेवाली हमारी मानवी प्रकृतिका विकास करना चाहिए। इसके लिये द्वंद्वमय राजस जीवनमेंसे, वासनामय जीवनमेंसे जाना पडता है। मनुष्यको जिस प्रकार स्तरस्तरसे क्रमशः मार्गक्रमण करके ज्ञान शक्ति और आनंद प्राप्त करना है, उसी ऊर्ध्वगमनके मार्गमें यह राजस स्तर है। इसी स्तर को गीता में 'मध्यमा गतिः' कहा है। परंतु यदि हम चिरकाल

इसी स्तरमें पड़े रहेंगे, तो हमारा ऊर्ध्वगमन, आत्माका पूर्ण विकास अपूर्ण ही रहेगा। सात्विक सत्ता अथवा स्वभावके द्वारा त्रिगुणातीत स्थिति में जाना ही आत्माके पूर्ण विकासका मार्ग है।

क्षुद्र प्रकृतिके द्वंद्वमय खेलके परे जाना हो, तो हमें समताकी बाजूसे ही जाना होगा। मनकी समता, चित्तकी समता, आत्माकी समता—इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है। तथापि हमें यह जरूर ध्यानमें रखना चाहिये, कि यद्यपि हमें आखिरतक क्षुद्र प्रकृतिके तीन गुणोंके परे जाना चाहिये, तब भी पहिले पहिले इन तीन गुणोंमेंसे एक ना एकका आश्रय करही के हमें आगे जाना पड़ेगा। समताका आरंभ सात्विक, राजस अथवा तामस भी हो सकता है; क्योंकि मानवी चरित्र में तामसिक समता भी है। सुखदुःखके आघातों से चैतन्यहीन होना, प्रकृतिगत जडताके कारण जीवनके आनंदोपभोगसंबंधी निरिच्छा, शुद्ध तामस समताका लक्षण है। वासनोपभोगके संचित क्लांतिसे भी समता आ सकती है। अथवा संसारयुद्धमें निराश अथवा पराभूत होकर संसारदुःखके विषयमें वैराग्य उत्पन्न होता है, सांसारिक व्यापारके बारेमें भीति और भ्रांति भी उत्पन्न होती है। इस प्रकारकी वृत्ति संमिश्र, रजोतामस है। तामस प्रकृतिमें सात्विक वृत्तिकी ओर झुकाव रह सकता है। विचार करनेसे बुद्धिको मालूम होता है, कि जीवनके वासनाओंकी तृप्ति कभी न होगी, संसारपर मात करनेकी आत्मामें कोई ताकत नहीं है; यह सब जीवन ही दुःखमय और अनित्य है। यहां कोई सत्य नहीं है, प्रकाश नहीं अथवा सौख्य नहीं है। इस प्रकारकी वृत्तिको सत्वतामस समता कह सकते हैं। परंतु वस्तुतः यह सच्ची समता नहीं, एक प्रकारकी उदासीनता है। तथापि इस वृत्तिसे सच्ची समता आ सकती है। तामस समता प्रकृतिकी आत्मरक्षक नीतिसे उत्पन्न हुई है। सामान्यतः इसी नीतिके वश होकर लोग विशेष दुःखदायक व्यापारसे स्वभावतः परावृत्त होना चाहते हैं; परंतु इसी प्रवृत्तिके वश होकर लोग जब सारे प्राकृतिक जीवन ही को दुःखमय समझते और उससे निवृत्त होना चाहते हैं; आत्माको जिस आनंदकी अपेक्षा है, वह आनंद इस संसारमें, दुनियामें नहीं है, उसके ऐवजमें दुःखशोकका ही साम्राज्य है—इस प्रकारकी मनोवृत्तिसे जो समता उत्पन्न होती है, वही तामस समता है।

यह बात जरूर है, कि सच्ची मुक्ति तामस समतामें नहीं है; परंतु अक्षर आत्माकी महत्तर सत्ता, सत्यतर शक्ति और उच्चतर आनंदकी उपलब्धि करके इस तामस समताको यदि सात्विक समतामें परिणत कर सकें, तो प्रारंभ की दृष्टिसे इस प्रकारकी समताका सामर्थ्य बहुत है। भारतका वैराग्यधर्म (Indian asceticism) इसी मार्ग का अवलंबन करता है; किंतु इस वृत्तिका स्वाभाविक झुकाव संन्यासकी ओर, संसार अथवा कर्मके त्यागकी ओर है। संसारमें रहकर भी वासनाका त्याग करके निष्काम कर्म करनेका जो गीताने उपदेश किया है, उस तरफ इसका झुकाव नहीं है; तथापि तामस समताको भी गीताने स्थान दिया है। सांसरिक दोष, जन्म-मृत्यु-जरा व्याधि- दुःख इत्यादिका समालोचन करके ऊर्ध्वगामी होनेकी अनुमति गीतामें है।

'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्' (१३-८)

इस मार्गकी बुद्धिकी साधना इतिहासप्रसिद्ध है। जरामरणसे मुक्त होनेके हेतु जो लोग आत्मसंयमनका अभ्यास करना चाहते हैं, उनके भी मार्गका गीताने त्याग नहीं किया—'जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतंति ये' (७-२९) तथापि इस मार्गसे कोई सच्चा फल प्राप्त करना हो, तो इसीके साथ किसी एक उच्चतर अवस्थाकी सात्विक उपलब्धि चाहिए और भगवान्‌का आश्रय लेना चाहिये (माम् आश्रित्य) तब इस वैराग्य के द्वारा आत्मा एक उच्चतर स्थितिमें प्रविष्ट होता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥ (१४।२०)

त्रिगुणोंका अतिक्रमण करके और जन्म-मृत्यु-जरादुःखोंसे मुक्त होकर आत्मा स्वतः की अमृत सत्ताका उपभोग लेता है। संसारके दुःख-कष्टों को पसंद करनेमें उत्पन्न होनेवाली अनिच्छा मनुष्यको अधोगामी अथवा दुर्बल ही करती है। यच्चयावत् जनोंको संन्यासका अथवा संसार-वैराग्यका शिक्षण देना विपज्जनक है; क्योंकि इस प्रकारके शिक्षणसे निरुपयोगी आत्मामें तामसिक दौर्बल्य अथवा तामस-वैराग्यका उदय होता है, बुद्धिभेद उत्पन्न होता है (बुद्धिभेदं न जनयेत्)। उच्चतर अवस्थाका अनुभव लेनेका सामर्थ्य आत्मामें न आया हो, तो इस प्रकारका शिक्षण देनेसे यह परिणाम होगा, कि परिस्थितिको अपने अधिकारमें लानेके लिये; आत्माके कल्याणके लिये जिन राजस प्रयत्नोंकी आवश्यकता है,वे शिथिल हो जायंगे जीवितसंबंधी प्रीति,धृति और उत्साह नष्ट करके आत्माका अनिष्ट किया जायगा। परंतु जो आत्मा उपयुक्त हुए हैं, उन्हें यह तामस वैराग्य जरूर उपकारक हो सकता है;क्योंकि सात्विक उच्च जीवनप्राप्तिको मारक ऐसी जो राजस वासना उनमें रहती है, वह इस तामसवैराग्यके द्वारा नष्ट हो जाती है। इस प्रकारके वैराग्यसे वे अपने जीवन में जो शून्यता उत्पन्न करते हैं, उस शून्यावस्था में वे भगवान्की पुकार सुनते हैं।

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।'

'इस दुःखमय संसारमें कौन रहता है? मुझमें आओ और आनंदका उपभोग लूटो!'

यह समता और कुछ नहीं, केवल इस जगत्की यच्चयावत् सब वस्तुओंके विषयमें वैराग्य है। इस प्रकार जगत्से, संसारसे निवृत्त होकर उदासीन रह सकते हैं; परंतु इस वैराग्यमें वह सामर्थ्य नहीं है, कि जिससे इस दुनियाके समग्र सुखदुःखोंका स्पर्श एक ही सी अनावृत्तिसे और निर्विकारसे ग्रहण कर सकें। गीतोक्त साधनका यह आवश्यक अंग है, कि इस प्रकार अनासक्त और निर्विकार चित्तसे दुनियाके सब सुखदुःखोंका ग्रहण करना। इसलिये हमें तामस वैराग्यहीसे प्रारंभ करना हो, तो वह केवल हमें उच्चतर साधनामें पहिले पहिले प्रवृत्त करनेके लिये किया जाय, न कि सदासर्वकाल विषादमग्न रहनेके लिये। सिवाय इसके यह ध्यानमें रखना जरूर है, कि उच्च साधनाका प्रारंभ करनेमें हमको तामस वैराग्यका अवलंबन करना अनिवार्य नहीं है। प्रथमतः हम सब वस्तुओंसे छुट्टी पानेकी इच्छा करते हैं; जब इन सब वस्तुओंको जीतकर उनपर प्रभुत्व स्थापन करनेका प्रयत्न करेंगे तबही सच्चे साधनका प्रारंभ होगा। यही जगह है, कि जहां एक प्रकार राजस समताका संभव है। चित्त-विक्षोभको अथवा दुर्बलताको दूर करनेमें, आत्म-संयम करनेमें शक्तिशाली लोग जो गर्वभरित होते हैं, वह इस राजस समताकी कनिष्ठतम अवस्था है। इस मनोवृत्तिसे प्रारंभ करके और इसीको मूलसूत्र लेकर अधःप्रकृतिके सर्वांगीण दास्यमेंसे स्वतःको पूर्णतया मुक्त करनेकी जो साधना है, वही स्तोइक आदर्श (Stoic Ideal) है। जिस तरह तामस वैराग्य प्रकृतिकी आत्म-रक्षणनीतिका परिणाम है, उसी तरह ऊर्ध्वमुखी राजस साधना भी प्रकृतियुद्ध, प्रभुत्व अथवा विजयकी ओर मनुष्यकी जो स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है, उसका परिणाम है। परंतु जिस क्षेत्रमें संपूर्ण विजय होनेका संशय है, उसी क्षेत्रमें यह युद्ध शुरू करना पडता है। साधारण प्रयत्नके द्वारा हम एक या दो विषयोंमें यथाकाल जयका लाभ कर सकते हैं; परंतु जबतक हम अपनी अंतःप्रकृतिको न जीत सकें, तब तक हमारा कोई भी विजय निश्चित और पूर्ण नहीं रहता। इसीलिये साधक नानाविध बाह्य हेतु सिद्ध करनेका प्रयत्न नहीं करता, किंतु आध्यात्मिक साधना अर्थात् आंतर्जयके द्वारा वह एकदम प्रकृतिको और जगत्को जीतनेकी इच्छा करता है। तामस वैराग्य संसारके सुखदुःखोंसे दूर भागनेकी इच्छा करता है; राजस साधना उसके सामने खडी होकर उसको सहन करनेके लिये अथवा विजयी होनेके

लिये उत्क्रांत करनेकी इच्छा करती है। जिस तरह वृद्ध धृतराष्ट्रने आलिंगनके पाशमें दिखा-कर लोहरूपी भीमसेनका चकनाचूर कर दिया; उसी तरह स्तोइक साधना पहलवानके सदृश वासनाको अथवा रिपुगणोंको आलिंगनकी कैंचीमें पकड़कर उन्हें नेस्तनाबूद कर देती है। सुखदुःखकी जो जो वस्तु शरीर-मनके चांचल्य का कारणीभूत होती है, उन सबके आघातोंको स्तोइक साधक एकहीसा बरदाश्त करता है। जब आत्मा किसी बातसे क्लिष्ट अथवा आकृष्ट नहीं होता, किसी प्रकार उत्तेजित अथवा व्यथित नहीं होता; सब तरहके बाह्य स्पर्शोंको सहन करता है, तभी यह साधना संपूर्ण होती है।

अर्जुनके क्षात्र स्वभावका ध्यान रखकर ही इस वीरोचित साधनाकी बात प्रथमतः गीताने कही है, दुष्ट वासनारूपी शत्रुपर हमला करके उसका वध करनेके लिये प्रवृत्त किया है। गीताने यह जो समताका प्राथमिक वर्णन किया है, वही स्तोइक आदर्शकी समता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ २-५६
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥२-५७

'दुःखमें जिसका मन विचलित नहीं होता और सुखके संबंधमें स्पृहाशून्य रहता है; आसक्ति, भीति और क्रोध जिससे दूर हट गये हैं, ऐसे ही मुनिको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। जो सकल विषयोंके संबंधमें स्नेहशून्य है, शुभ अशुभ वस्तुकी प्राप्ति होनेसे जो न प्रसन्न होता और न द्वेष ही करता, उसकी बुद्धि ज्ञानप्रतिष्ठ हुई, ऐसा कहना चाहिये।' एक स्थूल दृष्टान्त देकर गीता कहती है, कि यद्यपि कोई मनुष्य आहारसे विहीन हो, तो आहार्य वस्तुसे इंद्रियस्पर्श नहीं होता, तथापि वस्तुमें रहनेवाली इंद्रियकी लालसा (रस) जरूर रहती है। जब वस्तुके सान्निध्यमें आनेपर भी बाह्य भोगके लिये इंद्रिय व्याकुल नहीं होता, आस्वादसुखकी इच्छा छोड देता है, केवल तभी आत्माको उच्चतम अवस्था प्राप्त होती है। तब इस अवस्थामें शोकदुःखके लिये कोई स्थान ही नहीं रहता।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥२-६४
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते॥ २-६५

जिस प्रकार नदीका पानी समुद्रमें प्रवेश करता है, तब भी समुद्र क्षुब्ध नहीं होता, उसी प्रकार वासनासमूह आत्मामें प्रविष्ट होगा, तथापि उससे आत्मा क्षुब्ध न होगा। इसी रीतिसे अंतमें सब वासनाएं वश्यकी जा सकती हैं। क्रोध, प्रेम, द्वेष, भीति इत्यादिसे मुक्त होना मुक्तावस्थाके लिये अत्यंत आवश्यक है। गीताने इसपर बार बार जोर दिया है, विशेष जोर दिया है; इसीलिये इन सबके आवेगको सहन करना हमें सीखना चाहिये। परंतु इनके कारणोंके हम सामने भी न खडे हों और विषयसे डरके भागते रहें, तो यह कभी संभाव्य न होगा।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥५-२३

'इस संसारमें, इसी देहमें जो मनुष्य काम-क्रोधके वेगको सहन करता है, वही योगी और वही सुखी है।' इसका उपाय है, 'तितिक्षा' सहन करनेका संकल्प अथवा शक्ति।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ २-१४
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ २-१५

बाह्य वस्तुओंसे इंद्रियोंका संस्पर्श ही शीतोष्णके सुखदुःखका कारण है। इन सब स्पर्शोंको आने दो, वे अनित्य हैं, उन्हें बरदाश्त करना सीखो! क्योंकि जो व्यक्ति इन सब बाह्य वस्तुओंके संसर्गसे व्यथित नहीं होती, जो धीर अथवा ज्ञानी व्यक्ति सुखदुःखमें समान है, वही अमृतत्वके

लाभकी अधिकारी है। " जिसका आत्मा समता-संपन्न (Equal Souled) है, वह दुःखको सहन करता है, परंतु द्वेष नहीं करता; वह सुखका ग्रहण करता है, परंतु उल्हसित नहीं होता। केवल इतना ही नहीं, किंतु सहिष्णुतासे शारीरिक यातनाओंको भी जीतना चाहिये और यही स्तोइक (Stoic) साधनाका अंग है। जन्म, मृत्यु, दुःख, यातनाओंको डरके भागनेसे काम न चलेगा; उनका अंगीकार करना चाहिये और उनको तुच्छ समझकर उन्हें जीतना चाहिये। प्रकृतिके क्षुद्र खेलसे डरके जो भागता नहीं, किंतु उसपर विजय प्राप्त करता है, वही तेजस्वी पुरुषसिंह (पुरुषर्षभ) का सच्चा स्वभाव है। इस प्रकार विवश होनेके कारण प्रकृति अपनी मायाका आवरण दूर करती है और पुरुष मुक्त आत्मा है-ऐसा उसका सच्चा स्वरूप उसे बतलाती है। तब वह समझ सकता है, कि मैं प्रकृतिका दास नहीं, प्रकृतिका अधीश्वर, सम्राट् हूं।

परंतु जिस शर्तपर गीताने तामस वैराग्यका स्वीकार किया है, उसी शर्तपर इस स्तोइक साधनाका, इस वीरोचित आदर्शका स्वीकार किया है। इस पर ज्ञानकी सात्त्विक दृष्टि जरूर चाहिये, इसके मूलमें ज्ञान अवश्य चाहिये; आत्मस्वरूपलाभ का हेतु और इसकी गति दिव्य-जीवनप्राप्तिके मार्गमें उत्क्रान्त होती रहे। जो स्तोइक साधना केवल मानवी अंतःकरणकी कोमल वृत्तिको नष्ट कर देती है, वह तामस क्लांतिकी अपेक्षा, निष्फल विषादकी अपेक्षा और वंध्या जडता की अपेक्षा कम अनिष्टकारक जरूर है; परंतु वह शुद्ध कल्याणकारी नहीं है। क्यों कि उससे आध्यात्मिक मुक्ति नहीं होती; केवल हृदय-हीनता और निष्ठुर उदासीनता उत्पन्न होती है। स्तोइक समतासे आत्मा की अक्षरावस्था का संबंध होता है, मुक्तात्माका स्वरूप समझनेमें सहाय्य होता है और आत्मज्ञान में स्थितिलाभ करने के लिये मदद मिलती है; इसीलिये गीतोक्त साधनमें स्तोइक समताका समर्थन किया है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ ३-४३

'बुद्धिके सहाय्यसे, बुद्धिके भी परे रहनेवाले परमात्माके संबंध में सचेतन होकर, आत्मा को आत्मशक्तिके प्रयोग ही से धीर अथवा निश्चल करो और दुर्निवार आत्मशत्रु का नाश करो।' सात्त्विकता के द्वारा आत्मज्ञान का लाभ ही जब उद्दिष्ट रहता है, तभी उनके सहायक के नाते से तामस वैराग्य की अथवा राजस जय की सार्थकता है; अन्यथा उसका समर्थन नहीं हो सकता।

यह बात नहीं है, कि दार्शनिक, मनीषी, ज्ञानी व्यक्ति केवल अंत में सत्त्वगुण का अवलंबन करती हो, शुरू से ही वह अपने सात्त्विक प्रकृति के सहाय्य से आत्मजय की साधना करती है। सात्त्विक समता से ही उसकी साधना का प्रारंभ होता है। बाह्य जगत् अनित्य है; उससे वासनाकी तृप्ति नहीं होती अथवा सच्चे आनंद का लाभ नहीं होता। यह जानते हुए भी ऐसे साधक के चित्त में शोक, भीति अथवा निराशा उत्पन्न नहीं होती। वह शांत विचारदृष्टि से देखता है और द्वेष के अथवा मोह के वश न होकर स्वतः का अभीष्ट निर्णीत करता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यंतवंतः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ ५-२२

'वस्तुके संसर्ग से जो सब भोगसुख उत्पन्न होता है, वह परिणाममें दुःखका कारणीभूत है, उसको आदि और अंत है; इसलिये जो ज्ञानी है, जिसकी बुद्धि जागृत हुई है, वह इस भोगसे आनंदित नहीं होता।' 'उसका आत्मा बाह्य वस्तु के स्पर्श में आसक्त नहीं होता; वह अपने ही में अपने आनंद का सुख पाता है।'

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम्॥ ५-२१

वह समझता है, कि अपन ही अपने शत्रु हैं और अपन ही अपने मित्र हैं (आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः); इसलिये वह स्वतःके प्रभुत्वको

भूलकर वह कामक्रोधादिके चुंगलमें नहीं फँसता (नात्मानमवसादयेत्) किंतु आत्मशक्तिकी मददसे कामक्रोधादिके पाशोंसे अपना स्वतःका उद्धार कर लेता है (उद्धरेदात्मनात्मानम्)। क्योंकि जिसने स्वतः में अविद्याका खेल, क्षुद्र और अशुद्ध आत्माका खेल जीत लिया है, वही देख सकता है कि अपने शुद्ध आत्मा के समान अपना परम बंधु अथवा सहायक दूसरा कोई नहीं (बंधुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ॥ ६-६) वही ज्ञान से परितृप्त, जितेंद्रिय और सात्विक समता से योगी होता है (क्यों कि समता ही योग है- समत्वं योग उच्यते ॥ २-४८) वह सुवर्ण और मिट्टी, शीत और उष्ण, सुख और दुःख, मान और अपमान के संबंध में समवृत्तिवाला रहता है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥ ६-८

शत्रु, मित्र तथा उदासीन, इन सबसे वह समता ही से व्यवहार करता है; क्यों कि ये सब संबंध अनित्य हैं, और वह यह भी देखता है, कि इन सब संबंधों की उत्पत्ति जीवन की चिरपरिवर्तनशील अवस्था ही से है। इतनाही नहीं, किंतु ज्ञान के, शुद्धता के और धर्म के नामपर मनुष्य जो छोटे बडे, उच्चनीच विचार करता है, उन विचारोंमें भी ज्ञानी पुरुष भ्रांत नहीं होता। साधु असाधु पुण्यवान्, विद्वान्, उत्कृष्ट ब्राह्मण और पतित चांडाल इत्यादि सबके विषयमें उसकी एक ही प्रकार की समबुद्धि रहती है। सात्विक समताका वर्णन गीताने इस तरह किया है। ज्ञानी व्यक्ति की जिस शांत समतासे दुनियां परिचित है, उसका सुंदर सार गीता के इस सात्विक समता के वर्णन में भरा है।

तब इस समतामें और गीताने बतलाई हुई बृहत्तर समता में फरक कहां है? विचार वितर्क के द्वारा प्राप्त होनेवाले बुद्धिग्राह्य ज्ञान में और आध्यात्मिक वेदान्तिक ज्ञानमें जो फरक है, वही इस उभयविध समता में है। इसी उच्चतर आध्यात्मिक ज्ञान में, इसी वेदान्तिक ऐक्यज्ञान में गीता के उपदेश की, गीता के शिक्षण की बुनियाद है। दार्शनिक पंडित साधारण मनवृत्ति के द्वारा विचार वितर्क करके अंतःकरण में समभाव रख सकते हैं; परंतु समता का केवल इस प्रकारका आधार मजबूत नहीं है। क्योंकि यद्यपि तत्त्वज्ञ पुरुष सदैव जागृत दृष्टि रखकर अथवा स्वतःके मानसिक अभ्याससे स्वतःको काबूमें रख सकता है; तथापि वस्तुतः वह स्वतः की अधः-प्रकृति से मुक्त नहीं है। नाना प्रकारों से और अनेक बाजू से यह अधःप्रकृति ऐसे मनुष्यपर अपना अधिकार जमाती है और मौका मिलते ही अपना दमन करनेवाले इस मनुष्यका बुरी तरहसे बदला लेती है। क्यों कि अधःप्रकृति का खेल हमेशा सत्व-रज-तमका त्रिविध खेल है और सात्विक मनुष्योंको निगलनेके लिये रज और तमकी हमेशा कोशिश हुवा करती है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ २-६०

‘सिद्धिलाभके लिये यत्न करनेवाले ज्ञानी व्यक्तिके मनको भी प्रबल क्षोभकारक इंद्रिय ग्रसित कर डालते हैं।’ पूर्ण रीतिसे संकटहीन होना चाहो, तो सत्त्वगुणके परे, बुद्धिके परे (बुद्धेः परं) विराजमान ऐसे आत्मपुरुषका आश्रय लेनेके सिवाय दूसरा उपाय नहीं है।- यह आत्मपुरुष दार्शनिकोंका मनोमय पुरुष नहीं, किंतु दिव्य ऋषियोंका विज्ञानमय पुरुष है। यह त्रिगुणोंके अतीत है। आध्यात्मिक प्रकृतिमें दिव्य जन्मका लाभ करके समस्त साधनोंका उद्यापन करना चाहिये।

दार्शनिक ज्ञानकी जो समता है, वह स्तोइक साधककी समताके अथवा संसारत्यागी संन्यासी की समताके सदृश मनुष्यसे दूर रहनेवाली निर्जन समता है। परंतु जिसने दिव्य जन्म प्राप्त कर लिया है, उसको न केवल स्वतःमें किंतु सबहीमें भगवान्‌को देखना चाहिये। वह स्वतःसे सबका ऐक्य अनुभव करता है, इसलिये उसकी समता,

सहानुभूति अथवा ऐक्य परिपूर्ण रहता है। वह सबको अभेदबुद्धिसे देखता है और वह सर्वस्वी अकेलेकी मुक्तिके लिये प्रयत्न नहीं करता; वह स्वतः सुखदुःखसे विचलित न हो, परंतु अन्योंके सुखदुःखोंका बोझा अपने सिरपर लेता है। गीताने अनेकबार कहा है, कि सिद्ध ऋषिगण हमेशा उदार समतासे सकल जनोंके हितसाधनमें निमग्न रहते हैं; और इस प्रकारके हितसाधनोंमें ही वे आनंदी रहते हैं (सर्वभूतहिते रताः)। परम सिद्ध योगी केवल उच्च आध्यात्मिक भूमिमें वास करते हुए आत्मध्यानमें निमग्न नहीं रहते, किंतु "युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्" जगत्के कल्याणार्थ जगद्रूपसे नटनेवाले भगवान्के लिये सर्वकर्मकारी, सर्वतोमुखी कर्मी होते हैं; क्योंकि वे जैसे एक ऋषि, योगी होते हैं, वैसे एक भक्त, भगवत्प्रेमी और भगवत्सेवक भी होते हैं। वे भगवान्को सभी जगह देखते हैं; भगवान्को जहां देखते, वहां प्रेम करते हैं और जिसपर प्रेम करते हैं उसकी सेवा करनेको भी तैयार रहते हैं। उनका कर्म उन्हें मीलनसौख्यसे भी वंचित नहीं करता; क्योंकि उनके सब कर्म उनके हृदयस्थ भगवान् ही से उत्थित होते हैं और समस्त भूतोंमें विद्यमान ऐसे एकमेव भगवान्के उद्देश्यसे हुआ करते हैं। गीताकी समता इस तरह उच्च, उदार और अभेदमंडित है।

श्रीमद्भगवद्गीता-लेखमाला।

पंचम भाग।

छान्दोग्य उपनिषद्में ब्रह्मचर्यरहस्य।

(ले०- श्री० कलियारामजी कश्यप, एम. एस्सी.)

ब्रह्मचर्यके कतिपय नाम ॥

छान्दोग्य उपनिषद्में अष्टमाध्यायके ५ वें खण्डमें इस प्रकार लिखा है कि-

१. वह ब्रह्मचर्य ही है जो 'यज्ञ' कहा जाता है, क्योंकि यज्ञ वही होता है जिस के द्वारा कोई पुरुष, ज्ञाता को प्राप्त होवे और क्योंकि जो जानता है उस ज्ञाता परमात्मा को मनुष्य ब्रह्मचर्य के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, इसलिए यज्ञ ब्रह्मचर्य का ही दूसरा नाम है।

२. वह ब्रह्मचर्य ही है जो 'इष्ट' कहा जाता है। क्योंकि इष्ट वही होता है जिस के द्वारा कोई पुरुष, इष्टदेवता, सर्वसूक्ष्म परमात्मा तथा जीवात्मा को प्राप्त होवे, अनुभव करे और क्योंकि सब के इष्ट वांछित कमनीय परमात्माको मनुष्य ब्रह्मचर्यके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, अनुभव कर सकता है, इस लिये इष्ट ब्रह्मचर्य का ही दूसरा नाम है।

३. वह ब्रह्मचर्य ही है जो 'सत्रायण' कहा जाता है, क्योंकि सत्रायण ही होता है जिस के द्वारा कोई पुरुष अपने आत्मा के बचानेवाले रक्षक नित्य सत् स्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो सके और क्योंकि आत्मा के बचानेवाले रक्षक आत्मनः त्राण नित्य सत् परमात्मा को मनुष्य ब्रह्मचर्य के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, इसलिये सत्रायण ब्रह्मचर्य का ही दूसरा नाम है।

४. वह ब्रह्मचर्य ही है जो 'मौन' कहा जाता है। क्योंकि मौन वही होता है जिस के द्वारा कोई पुरुष आत्माको जानकर उसका स्वरूप देखता हुआ उस-पर मनन नाम विचार कर सके और क्योंकि आत्मा परमात्मा को जान, उन्हें साक्षात् कर उनके स्वरूप का मनन नाम विचार मनुष्य ब्रह्मचर्य के ही द्वारा कर सकता है, इसलिये 'मौन' ब्रह्मचर्य का ही दूसरा नाम है।

५. वह ब्रह्मचर्य ही है जो 'अनाशकायन' कहा जाता है, क्योंकि अनाशकायन वही होता है जिस के द्वारा मनुष्य नाश न होनेवाले आत्मा परमात्माको प्राप्त होता है, उनका अनुभव करता है और क्योंकि नाश न होनेवाले आत्मा परमात्माका अनुभव मनुष्य ब्रह्मचर्यके ही द्वारा कर सकता है, इसलिये 'अनाशकायन' ब्रह्मचर्य का ही दूसरा नाम है।

६. वह ब्रह्मचर्य ही है जो 'अरण्यायन' कहा जाता है, क्योंकि अरण्यायन वही होता है जिसके द्वारा अर और ण्य इन दोनों को मनुष्य अनुभव करता है और क्योंकि इन दोनों का अनुभव मनुष्य ब्रह्मचर्य के द्वारा ही कर सकता है, इसलिये 'अरण्यायन' ब्रह्मचर्य का ही दूसरा नाम है।

अर और ण्य यह ब्रह्मलोकमें दो अर्णव हैं। जो ब्रह्मचर्य के द्वारा इन दोनों ब्रह्मलोक के अर्णवों को अनुभव करते हैं साक्षात् करते हैं उन्हीं का यह ब्रह्मलोक है अर्थात् वही इस ब्रह्मलोक के निवासी हैं, अन्य कोई इस के अधिकारी नहीं। इन दोनों अर्णवों के अनुभवकर्ताओंकी सब ही लोकलोकान्तरोंमें यथेष्ट गति कामचार नाम इच्छानुकूल सैर होती है।

ब्रह्मलोक का अर्थ यहां से तीसरे अर्थात् द्यौलोक से है (यहां से तीसरे अर्थात् एक तो दृश्यमान स्थूल जगत्, दूसरा सूक्ष्म जगत् और तीसरा अत्यन्त सूक्ष्म परमात्मा, आत्मा, प्रकृतिरूपी जगत्। यह तीसरा अत्यन्त सूक्ष्म द्यौलोक ब्रह्मलोक है, जो इसे साक्षात् कर लेते हैं वे सब लोकों में यथेष्ट गमन करते हैं।)

अर्णव का अर्थ उणादिकोष के भाष्यमें पूज्य

2

स्वामि दयानन्दजी यह करते हैं कि जो जाता है वह अर्ण और वह जिसमें हो वही अर्णवः। अतः जितने उत्पन्न पदार्थ हैं वह क्योंकि आयु भोगते जाते हैं अतः वे सब गतिशील होने से अर्ण नामवाले हो सकते हैं और क्योंकि वह सब प्रकृति और जीवमें ही समाप्त हो जाते हैं अर्थात् जैसे अर्ण जलों का आधार समुद्र है इसी प्रकार उन अर्ण उत्पन्न पदार्थों के आधार प्रकृति और जीव हैं अतः वे प्रकृति और जीव ही उपरोक्त ब्रह्मलोक के दो अर्णव हैं।

इनमें से प्रकृतिमें आनन्ददायक गुण का सर्वथा अभाव है, अतः वह इसमें रमणीय, सेवनीय, कमनीय अंश कोई भी नहीं, इसी कारण यह 'अर' नाम अरमणीय नाम न रमणीय नाम न रमण के योग्य अर्थात् सेवन करने के सर्वथा अयोग्य है, अतः ब्रह्मलोकका 'अर' अर्णव यह प्रकृति ही है।

और सब प्रकृति से बने शरीरोंका नेता, संचालक, धारक उन की जान जीवात्मा ही है, अतः नेता होनेसे वही 'ण्य' है अतः ब्रह्मलोकका 'ण्य' अर्णव यह जीवात्मा ही है।

यह दोनों जिस में रहते हैं वह आनन्दस्वरूप सब का कर्ता सर्वाधार परमात्मा ही ब्रह्मलोक है क्योंकि उसी को निरन्तर देखते हुए ऐसे ही आनन्दित रहना यही ब्रह्मलोकप्राप्ति है। अतः जो ब्रह्मलोकसम्बन्धि अर और ण्य अर्णवोंको साक्षात् करते हैं वही ब्रह्मलोक को प्राप्त हो सब लोकों में इच्छानुसार विचरते हैं।

इन प्रकृति, जीव, परमात्मा का जो परस्पर संयोग होनेसे हिरण्यगर्भ सत् महान् उत्पन्न होता है वह भी द्यौः लोक कहाता है। इसको यहां 'ऐरम्मदीयं सरः, अश्वत्थः, सोमसदनः, अपराजिता पूर्वब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्ययम्' कहा है जिसका अर्थ यह है—

इरा नाम पृथिवी उस का मद नाम नशा चढाने आनन्द करवानेवाला, इरंमद नाम पार्थिव अग्नि अर्थात् पृथिवि के भीतर रहनेवाली अग्नि अर्थात् बिजुली उसका सर नाम तालाब अर्थात् जैसे तालाब में पानी इकट्ठा होता है, उसी प्रकार जहां बिजुली एकत्र होती है, वही एरंमदीय सर है, अतः वह हिरण्यगर्भ ही है।

यही अश्वत्थ अर्थात् कलभी इसी रूपमें न रहनेवाला अर्थात् अस्थायी सोम नाम Positive Electricity का सदन नाम निवास स्थान है। अतः Positive Electricity का नश्वर निवास स्थान ही अश्वत्थ सोमसदन है जो भी उपरोक्त हिरण्यगर्भ ही है क्योंकि जहां उस में अग्नि Nagative Electricity एकत्र होती है वहां उसीमें उस के उलटे सोम Positive Electricity का भी केन्द्र ही है।

इन दोनों विपरीत पदार्थोंका एक ही केन्द्र होनेसे यह हिरण्यगर्भ ही अपराजिता नाम इन दोनों से न जीती गई हिरण्यनाम ज्योतिः है जो पूर्वब्रह्म नाम प्रथम सर्वाधार परमात्मा जीव प्रकृति के संघातरूप प्रभुसे विशेषरूप अत्यन्त तेजस्वी बनाई गई है। अतः यह प्रथम ज्योतिः हिरण्यगर्भ महान् सत् भी द्यौः ब्रह्मलोक है जिसे पाकर मनुष्य सब लोकों में कामचार प्राप्त करता है। इति॥

इस प्रकार हमने ब्रह्मचर्य के छः नाम और उनके निरुक्तपूर्वक अर्थ दिये। इसी से यह भी साफ हो गया कि उपरोक्त छः कठिन शब्दों का अर्थ ब्रह्मचर्य है। इति॥

उपनिषदोंके कतिपय रहस्यपूर्ण शब्द।

औपनिषदिक निरुक्तिपूर्वक अर्थ।

(लेखक- श्री० प्रो० रलियारामजी कश्यप, एम. एस्सी.)

[लेखकने इस लेखमें कतिपय शब्दों के गूढ अर्थों पर मौलिक विचार किया है, जो कि प्रथम बार ही इतनी स्पष्टता से रक्खा गया है। लेखक की खोज बहुत सराहनीय है। —सम्पादक]

'सुकृत'-(तदात्मानं स्वयमकुरुत तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति।) उस (सत्) ने अपने आपको स्वयं ही किया (अनेक रूपों में अविभक्त इव प्रसिद्ध किया) इसी से उसे ही सुकृत कहा जाता है। इस प्रकार जो स्वयमेव अपने आप को बनावे वही सुकृत होता है और वही सत् हिरण्यगर्भ महान् महत्तत्त्वान्तर्गत ब्रह्म-परमात्मा प्रजापतिही है॥

(तैत्तिरीय उप० ब्रह्मानन्द० ७)

'आङ्गिरस-' (एवाङ्गिरसं मन्यतेऽङ्गानां यद्रसः।) अङ्गोंका जो रस (रूप मुख्य प्राण) है, उसे ही आङ्गिरस माना जाता है। इस लिये आङ्गिरसका अर्थ अङ्गोंका रस है, मुख्य प्राण है॥

'बृहस्पति-' (एतम् एव बृहस्पतिं मन्यते वाग्घि बृहती तस्या एष पतिः।) वाणी ही बृहती है और उसका यह पति रक्षक है, अतः इसी मुख्य प्राणको ही बृहस्पति मानता है। इस लिये बृहस्पति का अर्थ बृहती का पति, वाणी का पति, मुख्य प्राण ही है।

'अयास्य-' (एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते।) आस्य नाम मुख से जो अयते नाम जाता है (उस) इस (मुख्य प्राण) को ही उन (देवताओं) ने अयास्य माना। इस लिये अयास्य का अर्थ मुख से निकलने वा प्रवेश करनेवाला मुख्य प्राण ही है।

(छान्दो० उप० अध्य १ खं० २)

... [illegible] ...मुद्गीथमुपासी-तोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्] = 'ओ३म्' अक्षर उद्गीथ है। इसी की उपासना करे, इसी को (भक्त) उच्च स्वर से गान करता है, इसी का व्याख्यान यहां फिर किया जाता है। अतः एकाक्षर ओ३म् ही उद्गीथ है॥

[एषा भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः। स एष रसानाम् रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो य उद्गीथः] = सब उत्पन्न पदार्थोंका सार पृथिवी ठोस मादा है, क्योंकि पृथिवी से उत्पन्न हो वह पृथिवीमें ही अन्तमें मिल जाते हैं। इसी प्रकार पृथिवी का सार जल, बहनेवाला मादा है। जलका सार इसी प्रकार ओषधियां, गोधूम, यव, व्रीहि आदि हैं। ओषधियोंका सार इसी प्रकार पुरुष-शरीर है जिसका वैसा ही सार वाणी है, जिसका सार ऋचाएं हैं, जिनका सार सामगीतियां हैं, जिनका भी सार उद्गीथ ओ३म् है। इस प्रकार यह सब रसोंका परम रस सबसे अन्तिम सार आठवां सत परार्ध्य नाम पर+अर्ध अर्थात् परम सूक्ष्म आधा जगत् जो जीव और प्रकृति रूप है, उसमें रहनेवाला अविनाशी उच्च प्रकारसे गायनीय ओ३म् है॥

उद्गीथ- [(स) उद्गीथ इति प्राणं एवैतत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं थमन्न

...ठोपनिषद् (भाग ...)

(५)

हीदं सर्वं स्थितम्]-उद्गीथमें प्राणका वाचक उत् है क्योंकि प्राणके द्वारा ही उत् नाम ऊपर, ऊंचा, उत्कृष्ट, उत्तम होकर ठहरता है। वाणीका वाचक गीः है क्योंकि वाणियोंको हि गिर (गीर, गीः) कहते हैं। और अन्नका वाचक थं है, क्योंकि अन्नमें ही यह सब स्थित है अर्थात् अन्नसे ही सब प्राणी अप्राणी अपनी सत्ताको स्थिर रखते हैं। इस प्रकार प्राण, वाणी और अन्न इन तीनोंका एक नाम उद्गीथ है।

उद्गीथ- [(ग) द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थम्]-द्यौः का वाचक उत्, अन्तरिक्षका वाचक गीः, पृथिवीका वाचक थं है अर्थात् द्यौः अन्तरिक्ष पृथिवी तीनोंका एक नाम उद्गीथ है।

उद्गीथ- [(घ) आदित्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थं]-आदित्यका वाचक उत्, वायु का गीः और अग्निका थं है। इस प्रकार आदित्य वायु अग्निका सामूहिक एक नाम उद्गीथ है।

उद्गीथ-[(ङ) सामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीः ऋग्वेदस्थं-] सामवेदका का वाचक उत् यजुर्वेदका गीः और ऋग्वेदका थं है। इस प्रकार सामवेद, यजुर्वेद, ऋग्वेदका सामूहिक नाम उद्गीथ है।

(छान्दो० उप० अध्य० १ खण्ड ३)

'हृदयम्'-[एष प्रजापतिर्यद्धृदयमेतद्ब्रह्मैतत्सर्वम् तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद]- यह प्रजापति ही है जो हृदय है। यही ब्रह्म है, यही सर्व है, अर्थात् ब्रह्म सर्व प्रजापति परमात्मा का ही नाम हृदय है उस हृदय शब्दमें तीन अक्षर हैं। हृ एक अक्षर है। हृदय शब्दमें हृ इस कारण स्थित है कि जो इस हृदयम् प्रजापतिको जानता है उसके लिये अपने बेगाने सभी (उत्तमोत्तम पदार्थ भेंटरूप) लाते हैं। द एक अक्षर है, हृदयं शब्दमें द इस कारण स्थित है कि जो इस हृदयम् प्रजापति को जानता है उसको अपने बेगाने सभी (भक्ति प्रेम आदर रत्न आदि उत्तमोत्तम पदार्थ भेंट रूपमें) देते हैं। यम् एक अक्षर है। हृदयं शब्द में यम् इस कारण स्थित है कि जो इस हृदयम् प्रजापतिको जानता है, वह स्वर्गलोक में जाता है। वह स्वर्गलोक जिसमें सुखपूर्वक आनन्द से जहां जाता है, सैर करता फिरता है, उस मुक्ति सुखरूप स्वर्गको प्राप्त होता है। इस प्रकार हृदयम् उसका नाम है जिसके जाननेवाले के लिये अपने बेगाने सभी लालाकर उत्तमोत्तम पदार्थ दान करते जायें और जिसका जाननेवाला स्वर्गप्राप्ति कर सके, इसी लिये हृदयम् प्रजापति है।

'विद्युत'- [विद्युद् ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद्विद्युद्विद्यत्येनं पाप्मनो य एवं वेद विद्युद् ब्रह्मेति विद्युदेव ब्रह्म।] कहते हैं कि विद्युत नाम ब्रह्मका है छुडानेके कारण। क्योंकि जो यह जानता है कि विद्युत् ब्रह्म है उसे यह विद्युत् ब्रह्म पापसे छुडा देता है। इस लिये विद्युत् ही ब्रह्म है, अर्थात् विद्युत् ब्रह्म का ही दूसरा नाम है॥ इति॥

उद्गीथ-[(ख) उद्गीथ इति प्राण ...
...सुरी...- इयुत्तिष्ठति वागगीर्वाचो ह गिर इत्या... यमझे

...ठोपनिषद् (काव्य)

(ले० — श्री० हलियारामजी कश्यप, एम्. एस्सी.)

...ज अन्नसे श्रवः यश, फैला जिसका दूर ।
ऋषि तत्सुत वाजश्रवस, सर्वस्व दाता शूर ॥ १ ॥
कहा यही इतिहास में, मुक्ति इच्छाधार ।
डाला दे सर्व वही, धन उसने तत्काल ॥ २ ॥
नचिकेता सुत उसी का, था श्रद्धा भरपूर ।
दक्षिणा देती जात में, उसने विचारा दूर ॥ ३ ॥
अभी बाल्य ही काल में, श्रद्धा हुई प्रवेश ।
नचिकेता के हृदय में, धर्म किया सुप्रवेश ॥ ४ ॥
टूटें फूटे अङ्ग सब, दूध भी चुकीं दे ।
और घास नहीं खा सकें, जल पीवें नहीं वे ॥ ५ ॥
ऐसी गौएं दानकर, दाता पावे लोक ।
सुख आनन्द जहां नहीं, सदा रहे जहां शोक ॥ ६ ॥
तब बोला वह पितासे, देंगे मुझे किसे आप ।
फिर फिर पूछा प्रश्न यह, दूसरी तीसरी बार ॥ ७ ॥
बोला पिता दूंगा तुझे, मृत्यु यम को दान ।
सोचा तब नचिकेत ने, पिता का कहना मान ॥ ८ ॥
मध्यम हूं मैं बहुत में, आगे अन्यों से ।
कौन काज यम का सरे, आज करे वह मुझ से ॥ ९ ॥
प्रग पाले पूर्वजोंने, ज्यों, विचार उसे देख ।
सत्कर्मी इस काल के, करें, उसे भी देख ॥ १० ॥
मानव-देह पक जात है, कट फिर हो उत्पन्न ।
खेतीवाडी की तरह, फिर फिर मनुज उत्पन्न ॥ ११ ॥
यह विचार, मत शोक कर, हे पिता मुक्तिकाम ।
प्रण पूर्ण अपना करो, यही धर्म शुभ काम ॥ १२ ॥
तब नचिकेता चल पडा, यमराज की ओर ।
मृत्यु के घर पहुंचकर, व्रतधारा सुकठोर ॥ १३ ॥
हुई चिन्ता यमराज को, मैं गृही यद्यपि यम ।
अतिथि ब्राह्मण बाल यह, बोला वह सम्भ्रम ॥ १४ ॥
सूरज सुत ला जल अभी, कर शीतल यह आग ।
जो अभ्यागत घर तेरे, आया ब्राह्मण बाल ॥ १५ ॥
परमात्माका भक्त यह, नेता कुल संसार ।
अभ्यागत घर गृहीके, करे प्रवेश ज्यों काल ॥ १६ ॥
न्यूनबुद्धि जिस मनुजके, घरमें रहे बिनखाय ।
परमात्माका भक्तवर, जड उसकी कट जाय ॥१७॥
पुत्र मरें पशु नष्ट हों, अरु मन चाहे भोग ।
मिले तथा अभी नहीं मिले, सभी नष्ट, हो शोक॥१८
जो आस कल्याणकी, अरु उन्नतिकी उडीक ।
संगति सज्जन की तथा, मित्र वाणी भरी प्रीत ॥१९॥
यह सब कुछ ही नष्ट हों, अल्पबुद्धि नरके ।
अभ्यागत भूखा बसे, घरमें गृहस्थीके ॥ २० ॥
तीन रात भूखा बसा, तू जो मेरे घरमांह ।
नमस्कारके योग्य तू, अभ्यागत ब्रह्मशांह ॥ २१ ॥
जिससे मेरा कल्याण हो, करूं तुझे नमस्कार ।
हे भक्त भगवान्के, वर मांगो त्रयवार ॥ २२ ॥
तीनोंमें पहिला यही, वर मांगू यमराज !
तुझसे भेजे मुझीसे, करे प्रसन्न आलाप ॥ २३ ॥
गौतम-क्रोध हो दूर सब, मन उसका हो शान्त ।
मेरे लिये सङ्कल्प शुभ, करे वह नाना भान्त ॥२४॥
सुखसे छूटे मौतके, भेजे मेरे तुझको !
उद्दालक-सुत, अरुण-सुत, तृप्त सुप्रसन्न हो ॥ २५ ॥
अपना क्रोध उतार कर, सोवे चैनसे रात ।
इच्छुक देखनेका तुझे, ज्यों पहिले हुआ तात ॥ २६ ॥
वैसेही होगा पुनः, वर मेरेसे वह ।
सुखी देखकर तुझे फिर, सुप्रसन्न अति वह ॥ २७ ॥
वर दूजा यह मांगता, हे मृत्यु यमराज !
स्वर्गलोक की अग्न जो, कहिए वह ऋषिराज ! ॥२८॥
अधिकारमें आपके, श्रद्धा मेरी उस मांह ।
जानते हैं उसे आप ही, स्वर्ग उसी की छांह ॥ २९ ॥
डर कुछ भी नहीं स्वर्गमें, नहीं बुढापा मौत ।
तर कर भूक प्यास अरु, शोक, बने सुखस्रोत ॥३०॥
आनन्द भोगें स्वर्गमें, नहीं आपका भय ।
स्वर्गके वासी जीवोंको, सदा युवा रहें वह ॥ ३१ ॥
प्यास भूख उन्हें न लगे, शोक कबहुं नहीं हो ।
भय बुढापे से नहीं, सदा उन्हें सुख हो ॥ ३२ ॥
सेवें अमृत सुख वही, बसें स्वर्ग में जो लोक ।
बतलाइये मुझे यज्ञ वह, स्वर्गका साधक योग ॥ ३३ ॥
तब बोले ऋषिराज यम, सुन नचिकेता सौम्य ।
साधक अग्नि स्वर्ग की, जो जानूं मैं सौम्य ॥ ३४ ॥

तुझे बताता हूं वही, मुझ से अब वही जान ।
हृदय-गुफा में छिप रही, इस को तू पहिचान ॥ ३५ ॥

अन्तरहित् जो लोक हैं, उन में वह रही व्याप ।
धार थाम रही जगत् को, स्वर्गाग्नि निष्पाप ॥ ३६ ॥

लोकारम्भक ज्योति जो, तत् प्रदर्शक कर्म ।
जैसे जितने चाहियें, कहे इष्टका धर्म ॥ ३७ ॥

साधक हैं उस इष्ट के, यम किये वर्णन सब ।
जैसे सुने दोहरा दिये, नचिकेता ने भी तब ॥ ३८ ॥

हो प्रसन्न नचिकेत से, तब फिर बोले यम ।
प्रेम भरे सुमहात्मन्, उसे प्रेम से यम ॥ ३९ ॥

इक् वर इस सम्बन्ध में, दूं आज तुझे और ।
नाम से अग्नि तेरे ही, विख्यात सब ठौर ॥ ४० ॥

होगी यह, कई रंग की, यह शुभ माला ले :
सब रंग से जो सजी, चित्रित माला ले ॥ ४१ ॥

नचिकेता शुभ यज्ञ हो, जिसने किया त्रय साथ ।
ब्रह्मदेव और अग्नि से, किया मेल त्रय बार ॥ ४२ ॥

तीन कर्म जिस ने किये, ब्रह्मदेव ऋषि यज्ञ ।
अग्नि: आशीर्वाद से, तरे वह मृत्यु जन्म ॥ ४३ ॥

ब्रह्म से उत्पन्न वेद जो, तद् ज्ञेय भगवान् ।
स्तोतव्य उस देव को, जो जाने विद्वान् ॥ ४४ ॥

निश्चय करे उस अग्निका, नचिकेता ऋषि जो ।
परा शान्ति: प्राप्त कर, स्वर्ग मनावे सो ॥ ४५ ॥

आनन्द भोगे स्वर्ग में, दूर हुए सब शोक ।
मौत की फांसी पूर्व कट, हुआ तभी वह अशोक ॥ ४६

सत्त्व रज: अरु तमोगुण, ब्रह्मदेव अरु भूत ।
इन तीनों का यज्ञ शुभ, शुभ नचिकेतस् रूप ॥ ४७ ॥

तिक्कडियें सब जानकर, करे तीन के यज्ञ ।
वही तोड यम फांस को, जाय स्वर्ग सुप्रज्ञ ॥ ४८ ॥

वर दूजेसे जो वरी, स्वर्गकी साधक अग्न ।
हे नचिकेता तुझे यह, वही बताया यज्ञ ॥ ४९ ॥

लोग नाम देंगे तेरा, ही इस अग्निको ।
वर नचिकेता मांग अब, तीजा चाहो जो ॥ ५० ॥

वरोंमें तीजा वर यही, मांगूं मैं यमराज !
भेद बतावो आपना, कृपा करो महाराज! ॥ ५१ ॥

मर जानेपर मनुजके, संशय हो जो यह ।
"है यह" कहते कोई हैं, अन्य कहें "नहीं यह" ॥५२॥

शिक्षा पा फिर तुझीसे, मैं जानूं यह भेद ।
वर पाऊं यह तीसरा, अपना हरूं सब खेद ॥ ५३ ॥

तब उचरे यमराज यह, यह अतिसूक्ष्म बात ।
सुगमतया पूर्णतया, नहीं जानी यह जात ॥ ५४ ॥

देवोंको भी पूर्वसे, इसमें रहा संदेह ।
नचिकेता कोई और वर, इसके बदले ले ॥ ५५ ॥

मत कर मुझको विवश तू, छोड इसे यहीं तू ।
रहने दे इस भेदको, मुझमें ही छिपा तू ॥ ५६ ॥

सत्य, देव सन्देहमें, इसी विषयमें भी ।
कहते सुविज्ञेय न, यम ! आप जिसे भी ॥ ५७ ॥

वर दूजा नहीं तुल्य है, इसके अत: कोई और ।
तद् उपदेष्टा अन्य न, तव सदृश मिले और ॥ ५८ ॥

बेटे पोते सौ वर्ष, जीनेवाले मांग ।
बहुत, पशु, गज, अश्व अरु, स्वर्ण भूमि सुमहान्॥५९॥

मांग सुविस्तृत भूमिपर, बडा भारी यदि राज्य ।
जितनी चाहे सरदियां, जी आप अहो भाग्य ॥६०॥

मानों यदि वर तुल्य तत्, मांग जीविका स्थिर ।
धन, राज्य, बडी भूमिपर, कर प्राप्त सुस्थिर ॥६१॥

इच्छा तेरी सभी पूर्ण हों, कामभाज् बन तू ।
प्राप्त हुआ इस भूमिको, नचिकेता बढ तू ॥ ६२ ॥

मरणधर्म इस लोकमें, जो इच्छित दुष्प्राप्य ।
स्वेच्छापूर्वक मांग तू, मुझसे सभी वह प्राप्य ॥ ६३ ॥

बाजे गाजे साज युत, ये सुन्दरियां नार ।
बैठी उत्तम रथोंमें, तू इनसे कर प्यार ॥ ६४ ॥

मैंने दे दीं ये तुझे, इनसे विचर स्वच्छन्द ।
इन सदृश नहीं मनुजको, मिलें नार सुखकन्द ॥६५॥

पर मरनेकी बात न, हे नचिकेता वीर !
पूछ तू मुझसे प्रियवर, हठ छोड, धृतिधीर ! ॥ ६६ ॥

कल तक भी स्थिर रहें, न जो मानवी भोग ।
मनुज की इन्द्रिय-शक्तियां, क्षीण करें, करें रोग ॥६७

सब इन्द्रिय का तेज यह, उसे करे वह जीर्ण ।
अत: न्यून ही है सदा, सारा जीवन शीर्ण ॥ ६८ ॥

अन्त करे यम सभीका, अत: नाच और गान ।
तेरे ही रहें अश्वरथ, हाथी, सब सामान ॥ ६९ ॥

धन से तृप्त न हो मनुज, तुझे देख मिले स्वर्ण ।
आज्ञा तेरी में जीयेंगे, जब तक हो न मरण ॥ ७० ॥

जब तक राज है आपका, इच्छा आप की है ।
अत: मांग ने योग्य तो, वर मेरा वही है ॥ ७१ ॥

बुड्ढा होगा मरेगा, धराशायी यह मनुज ।
निन्दित नीच कुकर्मवश, कामपाश फंसा मनुज ॥७२॥

रंग रूप की प्रीति में, हास-विलास-प्रवीण।
नीचे नीचे जायगा, प्राप्त करे गति हीन ॥ ७३ ॥
पूरी तरह विचार यह, जान सभी का अन्त।
बहुत ही लम्बी आयुको, चाहे कौन मतिमन्त ॥७४॥
वह भी पहुंच जब हो गया, अमर अजर के समीप।
साक्षात् यमराज के, मृत्यु जरा आधीश ॥ ७५ ॥
परमैश्वर्य महान् जिस, इस में करे सन्देह।
उसी परात्पर तत्त्व शुभ, का उपदेश तू दे ॥ ७६ ॥
हे मृत्यु ! यह छिपा जो, सब में फिर प्रविष्ट।
जीव में भी विद्यमान् जो, वरणीय सुविशिष्ट ॥ ७७ ॥
इस नचिकेता बाल को, वही बताइये यम।
वर इस से भिन्न दूसरा, वरे नहीं वह यम ॥ ७८ ॥
तब बोले ऋषिराज यम, मधुर मनोहर बैन।
समझाया नचिकेत् को, प्रिय शिष्यको सैन ॥ ७९ ॥

दूसरी वल्ली

एक मार्ग कल्याणका, एक प्यारका मार्ग।
प्रति विषय सम्बन्धमें, बान्धते दोनों मार्ग ॥ ८० ॥
पुरुष जीव शुभ आत्माको, ग्रहण करे कल्याण।
जो, उसका होवे भला, अन्य की होवे हानि ॥८१॥
उसकी, जो स्वीकार करे, प्यारका रोचक पन्थ।
उद्देशसे हीन वह, पकडे कुव्यसनी पन्थ ॥ ८२ ॥
घेरते दोनों मनुजको, प्यार मार्ग कल्याण।
बुद्धिमान् कोई धृतियुत्, इनकी करे पहिचान ॥ ८३ ॥
सम्यक्तया विचार कर, सभी ओरसे यह।
धीर वरे कल्याणको, पकडे प्यार न नेह ॥ ८४ ॥
चाह प्राप्ति अप्राप्तकी, प्राप्तकी रक्षा वह।
सुस्त बुद्धिवाला वरे, प्यारका मार्ग वह ॥ ८५ ॥
प्रियदर्शन मनमोहिनी, इच्छित दीं सब त्याग।
उस तुझने प्रिय शिष्यवर, नचिकेता सविराग ॥ ८६ ॥
सब प्रकार सुविचार कर, दूर से त्यागी सब।
नहीं फंसा धनरूप इस, जंजाल में तू अब ॥ ८७ ॥
डूब जाते बहु मनुज हैं, जिस धनसागरमें।
इच्छित भोग अनेक भी, लुभा तुझे न सकें ॥ ८८ ॥
ज्ञानरहित सज्ञान अरु, जाने गये विपरीत।
जाते भिन्न दशाओंमें, दूर जो यह विपरीत ॥ ८९ ॥
मन चाहा उन दोऊ में, नचिकेता को ज्ञान।
मैं मानूं कल्याणका, मार्ग यही विज्ञान ॥ ९० ॥
वर्त्त रहे अज्ञानमें, अपने को कहें धीर।
बुद्धिमान् अरु धृतियुत, विद्वान् वर वीर ॥ ९१ ॥
ज्यु अन्धा ले जाय ज्यों, अन्धों को अनुकूल।
त्यों भटकें यह मूर्ख जन, विद्या से प्रतिकूल ॥ ९२ ॥
जन्म-मरण के चक्रमें, फिर फिर गोते खायें।
पण्डित समझें आपको, पथ सच्चा नहीं पायें ॥ ९३ ॥
धन के मद से मत्त जो, विषयी विलासी लोग।
'यही लोक है' मानते, 'नहीं अन्य' कोई लोक ॥९४
मुक्ति अच्छी लगे न, बाल बुद्धि इन को।
बार बार मेरे वश पड़ें, अज्ञानी जन सो ॥ ९५ ॥
सुनने को भी न मिले, बहुतों को यह ज्ञान।
सुनकर भी जिसे बहुतसे, नहीं सके कबहुं जान ॥९६॥
जिसे मिला यह, चतुर सो, जिसे सिखावे वह।
जाने वही विचित्र नर, उपदेशक ही वह ॥ ९७ ॥
उस के हों उपदेश से, आश्चर्यान्वित अन्य।
सभी विस्मयाविष्ट हो, ज्ञान उस का कहें धन्य ॥ ९८॥
अणु के भी परिमाण से, सूक्ष्मतर जीवात्म।
अतः तर्क में आये न, निश्चय वह परमात्म ॥ ९९ ॥
अपने से भिन्न गुरु के, बिन कहे यहां न पहुंच।
निचली कोटि के ज्ञानीके, कहे भी वहां न पहुंच ॥१००
बहु प्रकार से सोचिये, विविधरूप पहिचान।
सुगमतया से पाइये, तब यह आत्मज्ञान ॥ १०१ ॥
निचले ज्ञानी के कहे, से भी न पाया जाय।
बहुविध सोचा गया भी, नहीं जाना यह जाय ॥ १०२॥
गुरुबिन यह नहीं पाइये, नहीं तर्क का काम।
सूक्ष्मतर है अणु से, भी जीवात्म नाम ॥ १०३ ॥
हे प्रियतम ! शुभ ज्ञान के, लिये कहा किसी ने।
सम्मति उस की न काटिये, तर्क कुल्हाडा ले ॥ १०४ ॥
भक्त कही शुभ सम्मति, यह न निवारे प्रिय !
धारणा सच्ची जिसी को, हुआ प्राप्त तू प्रिय ॥१०५॥
हे नचिकेता ! शिष्यवर, पूछनेवाला अन्य।
तव सदृश हमको मिले, फिर भी भक्त अनन्य ॥१०६
धनकोष स्थिर न रहे, वह आत्मा है नित्य।
चंचलसे कबहूं न मिले, अचल तत्त्व वह नित्य ॥१०७॥
ब्राह्म अग्निकी चयन में, यही जान नचिकेत।
अस्थिर भोगोंसे अतः प्राप्त की मैं शुद्धचेत ॥१०८॥
पूर्ति इच्छित भोगकी, जगमें लगनी जड।
फल विस्तृत शुभ यज्ञका, निर्भयता स्थिर दृढ ॥१०९॥
बहुविध गायन योग्य जो, बहुत-स्तुतिसमूह।

मान प्रतिष्ठा देखे सब, त्यागा भोग समूह ॥ ११० ॥
नचिकेता ! तू धृति से, बुद्धिमान् धृतिधीर।
दूर से ही दिया त्याग सब, हे धुरन्धर वीर ! ॥१११॥
कठिनतासे दिख सके वह, जीवमें फिर रहा छिप ।
बुद्धिगुफामें स्थित सदा, हृत्कोठरमें स्थित ॥११२॥
प्राचीन उस दिव्य वर, को मान सह मान ।
स्वात्मध्यानसे मिले जो, आत्मयोग सुध्यान ॥११३॥
दिव्य सत्य परमात्मका, कर विचार धृति धीर।
त्याग खुशी अफसोस को, बने वीर गम्भीर ॥११४॥
यह ज्ञान सुन कर मनुज, सम्यक् कर इसे ग्रहण।
सब प्रकार विचार यह, पृथक् आत्म कर ग्रहण॥११५
सर्वाधार इस सूक्ष्मको, आनन्द लेने योग्य।
कर प्राप्त आनन्द है, लेता वह सुप्राप्य ॥ ११६ ॥
खुले द्वार काहूं मानता, नचिकेता हृद्धाम ।
इस मन्दिरमें आत्मिक ज्योति शुभ अभिराम ॥ ११७
जो दीखे तुझे भिन्न ही, अगले पिछलेसे ।
कारण-कार्यसे भिन्न ही, निर्गुण अरु गुणसे ॥ ११८ ॥
कह वह शुभ प्राप्तव्य तू, जिसे बखानें वेद ।
सभी, जिसे बतला रहे, सभी तपस्या भेद ॥ ११९ ॥
जलो रहें चाह जिसे ही, चाहें दिसे सती नार ।
प्राप्तव्य वर्णन करूं, सूक्ष्म वही ओ३म्कार ॥ १२०॥
जग निर्माता धारता, अविनाशी परमातम् ।
यही ओ३म् है अक्षर, यही सुब्रह्म सनातन ।
यही जान परमक्षर, जो चाहे सो पावे ।
जिसकी इच्छा होवे, वही तुरत मिलजावे ॥ १२१ ॥
यही सहारा उत्तम, कल्याण कर यह ही ।
आश्रय जान इसेही, कर साक्षात् इसे ही ।
दर्शना ईशका पावे महिमायुत हो जावे ।
ब्रह्मलोक शुभ पाकर, अति महान् हो जावे ॥१२२॥
नहीं जन्मता मरता, नहीं हुआ यह कहींसे ।
व्यक्ति नहीं यह कोई, नहीं श्रेष्ठ कोई इससे ।
सदा एक रस है यह, जन्मरहित सुसनातन ।
रहे सदा ही ऐसा, नष्ट न होवे कदाचन ॥ १२३ ॥
जो कहे मैं यह मारा, या कहे गया मैं मारा ।
अज्ञानी वह दोनों, मारने मरनेवाला ।
नहीं किसीको मारे, नहीं स्वयं यह मरता ।
देह चाहे मरजावे, नहीं कभी यह मरता ॥ १२४ ॥
परमाणुसे सूक्ष्म, आकाशसे विस्तृत ।
हृत कोठरमें देहकी, छिपा आत्मा विस्तृत ।
कृपासे जग धारककी, यत्नसे ऊपर उठ कर ।
शोक कर्म फल त्यजकर, दिखे आत्मा उच्चतर ॥१२५
अनुभव महिमा तब करे, आत्मतत्त्व शुभ की ।
कर्म शोक उत्तापसे, उठे उच्च जबही ॥ १२६ ॥
बैठा बैठा दूर जा, सोया पहुंच सब स्थान ।
अज्ञानमें मस्त न, जो देव सुमहान् ॥ १२७ ॥
उस आत्मिक शुभ स्थितिको, मुझ बिन जाने कौन ।
प्रकृति मदसे असद जो, देव पहिचाने कौन ॥१२८॥
देहोंमें देहरहितको, व्यापक आत्मा महान् ।
जो स्थिर है संसारमें, उसे निजात्म पहिचान ॥ १२९॥
बुद्धिमान् धृतिधीर नर, करता नहीं फिर शोक ।
जिसने विचारा आत्मा जीत लिये सभी लोक ॥१३०॥
सुननेसे बहु वेदके, अर्थ पढानेसे ।
बुद्धि, निरुक्ति मात्रसे, यह आत्मा न मिले ॥१३१॥
वरे जिसे यह स्वयंही, मिले उसे ही आत्म ।
निजवत् उसकी देहको, वर लेता परमात्म ॥ १३२ ॥
विविध रीतिसे खोलता, अपने भेद तदग्र ।
रूप अपना प्रकाशता, स्वयमेव सुभद्र ॥ १३३॥
त्यागी रति दुराचारमें, जिसने नहीं सुविशेष ।
चित्त टिकाया है नहीं, नहीं शान्त निःशेष ॥ १३४ ॥
इन्द्रिय मन किया शान्त न, नहीं बुद्धि सुस्थिर ।
यह आत्मा नहीं पासके, ज्ञान मात्रसे फिर ॥ १३५ ॥
ज्ञान मात्र शुभशक्ति अरु, ब्राह्मण क्षत्री वीर।
दोनों भात समान हैं, जिस के लिये वह ईश ॥ १३६॥
मौत परोसे भात पर, है घृतवत् जिसको ।
जैसा वह अरु जहां है, कौन जाने इस को ॥ १३७ ॥

तीसरी वल्ली ।

दृश्यमान् यह देह जो, शुभ कर्म संस्थान ।
इस का परला भाग जो, उत्तम हृदयस्थान ॥ १३८ ॥
कर प्रवेश उस गुफा में पीते यथार्थ आप ।
उजियाले प्रकाशवत्, जीव हरि दिखें आप ॥ १३९ ॥
जो जाने त्रय तत्त्व अरु, पञ्च शुभाग्नि यज्ञ ।
परमात्मा को जानते, कहते यही दो यज्ञ ॥ १४० ॥
जीवात्मा परमात्मा, यही पूजने योग्य ।
लोक निवासी स्वर्ग के, भोगते भोगने योग्य ॥ १४१ ॥
जो करते शुभ यज्ञ हैं, तरा चाहे भव पार ।
उत्तम पुल उनके लिये, ईश का परला पार ॥ १४२ ॥

नचिकेता सके जान वह, हम भी सकें पहिचान ।
निर्भय उत्तम ब्रह्म को, अविनाशी अभिराम ॥१४३॥
रथ मालक तो आत्मा, रथ शरीर तू जान ।
जान ज्ञान को सारथि, मन लगाम पहिचान ॥ १४४ ॥
घोडे कहीं गई इन्द्रियां, अर्थ उनके गति मार्ग ।
इन्द्रिय मन युत आत्मा, भोक्ता कहा सुमार्ग ॥१४५॥
बुद्धिमान् ऋषिजनोंने, मन की भी जानें जो ।
मन वश कर जिनने लिया, कहे मनीषि जो ॥ १४६ ॥
विज्ञान बलरहित हो, स्थिर कबहुं नहीं मन ।
वश उसके नहीं इन्द्रियां, दुःखप्रद ज्यों वाहन ॥१४७॥
सारथि के वश नहीं हों । पर विज्ञाता जो,
उत्तम घोडे सारथि, के वश में ज्यों हों, ॥ १४८ ॥
त्यों वश हों उस इन्द्रियां, यदि मन होवे स्थिर ।
पर विज्ञाता जो नहीं, मन जिस का नहीं स्थिर,॥१४९
कबहुं पवित्र रहे नहीं, नहीं पावे प्राप्तव्य, ।
लौटे फिर फिर जगतमें, ब्रह्म न पावे अगम्य ॥ १५० ॥
पर पावे नहीं जन्म फिर, जहां पहुंच यह जीव ।
उस शुभ पद परमात्मको, प्राप्त हो वही सुधीर॥१५१॥
जो रहे सदा पवित्र ही, विज्ञान अनुकूल ।
मन वश कराके आपना, विचार प्राप्त अनुकूल॥१५२॥
रख लगाम मन सारथि बुद्धि स्वयं सवार ।
संसार यह मार्ग जो, इस के होवे पार ॥ १५३ ॥
उस व्यापक भगवान् का, प्राप्तव्य उत्कृष्ट ।
नर नारायणका भजे, विष्णु पद सुविशिष्ट ॥ १५४ ॥
इन्द्रियगणसे विषय हैं, निश्चय ही बलवान ।
विषयों से मन प्रबल है, मन से ज्ञान बलवान ।१५५।
चित्त प्रबलतर बुद्धि से, कहा यह आत्मा महान् ।
इस से प्रबल है प्रकृति, उस से पुरुष बलवान ॥१५६॥
परे नहीं कुछ पुरुष से, वही है अन्तिम सत्य ।
पराकाष्ठा परमगति, वही प्रबलतर तत्त्व ॥ १५७ ॥
सभी पदार्थोंमें छिपा, यह आत्मा न हो व्यक्त ।
नहीं प्रकाश हो सुगमता, से आत्मा अव्यक्त॥१५८॥
सूक्ष्मतत्त्व जो देखते, उन्हीं से देखा जाय ।
बुद्धि सूक्ष्म सुतीक्ष्ण से, अन्य इसे नहीं पाय ॥१५९॥
मन वाणी को रोक दे, रोके वचन विचार ।
बुद्धिमान विज्ञान से, दूर भगावे विकार ॥ १६० ॥
विज्ञानको चित्तसे, करे वह फिर सुस्थिर ।
सब चिन्तन भी त्याग दे, शान्त तत्त्वमें फिर ॥१६१॥

उट्ठो, जागो, बूझलो, प्राप्त हुए वरणीय ।
उत्तम सज्जन भक्त जन, आत्मतत्त्व रमणीय ॥१६२॥
तेज छुरे की धार ज्यों, कठिन ही लांघी जाय ।
कवि कहें त्यों मार्ग वह, कठिन ही लांघा जाय ॥१६३॥
स्पर्श रूप रस गन्ध अरु, शब्द से न्यारा जो ।
घटे बढे जो कभी न, सदा एक रस सो ॥ १६४ ॥
आदि नहीं न अन्त है, है महान् से सूक्ष्म ।
बलवान पर चित्त से, सुस्थिर अटल सुसूक्ष्म ॥ १६५ ॥
जान उसे, पहिचान कर व्यतिरेक से धीर ।
मौत के मुख से छूटता है सर्वथा वीर ॥ १६६ ॥
नचिकेताका यम कहा, कहे सुने इतिहास ।
मेधा बुद्धि युक्त जो, सत्य सनातन शास ॥ ॥ १६७॥
भगवद्दर्शन प्राप्त कर, ब्रह्मलोकमें जा ।
महिमा पावे महान् वह, भक्तराज कहला ॥ १६८ ॥
ब्राह्म सभामें भेद यह, गोपनीय उत्कृष्ट ।
भक्त सुनावे जो प्रेमसे, खोले रहस्य विशिष्ट ॥१६९॥
श्रद्धामय शुभ यज्ञके, समय सयत्न विशेष ।
पावे तब वह अनन्त सुख, मुक्ति योग्य निश्शेष॥१७०॥

दूसरा अध्याय

चौथी वल्ली

स्वतः सिद्ध जिस देवने, रची इन्द्रिय सब ।
जाय बाहर विषयमें, उस रची ऐसी सब ॥ १ ॥
साधारण जन देखते, नहीं निजन्तर आत्म ।
बाहर दूर ही देखते, कारण वही परमात्मा ॥ २ ॥
कर इच्छा कोई मोक्षकी, धीर बन्द कर आंख ।
देखे निरन्तर आत्मा, बन्द बाहरी आंख ॥ ३ ॥
जाते पीछे विषय कही, के अज्ञानी बाल ।
में फंस जायं मौतके, वे विस्तृत जंजाल ॥ ४ ॥
अटल अमर को जान कर, पर धृतिधीर गंभीर ।
नश्वर भोग इस जगत् के नहीं मांगते वीर ॥ ५ ॥
गिडगिडाते नहीं प्राप्ति, भोगोंकी वे अर्थ ।
चकचलोंमें कभी न मिले, वह अविनाशी तत्त्व ॥६॥
काम भोग सुख स्पर्श अरु, शब्द गन्ध रसरूप ।
जिस इसही जानता कौन यह शिष्टस्वरूप ॥ ७ ॥
यहां जो पीछे बच रहा, विज्ञान विषय भिन्न ।
यही वह आत्म तत्त्व है, परमात्म, जग भिन्न ॥ ८ ।
पीछे स्वप्नके स्वप्नको, देखता जिससे मनुज ।

बीत चुकीं घटनाएं जो, जाग्रत देखता मनुज ॥ ९ ॥
स्वप्नावस्था जागरित, जिस से देखे दो।
दोनों भिन्न सुषुप्त अरु अनुभव भीकरे सो ॥ १० ॥
वह व्यापक सुमहान अरु, सूक्ष्म स्वात्म तत्त्व।
द्रष्टा तीनों कालमें, सर्व दशा सुविरक्त ॥ ११ ॥
धीर उसे जो विचार ले; फिर नहीं करता शोक।
बुद्धिमान् सुमहात्मा, देख आत्म आलोक ॥ १२ ॥
भूत भविष्यत् पर करे, राज्य शुभात्मा जो।
मधु अमृत स्वस्वरूप को, खावे भोगे सो ॥ १३ ॥
अति समीप से जीव उस, आत्मा को पहिचान।
निन्दा फिर कबहुं न करे आत्म तत्त्व को जान ॥१४॥
यही वह आत्मा जीव है जो लेता है स्वप्न।
जाग्रत् के व्यवहार कर, फिर सोए निःस्वप्न ॥ १५ ॥
अग्नि जल से हुआ जो, पूर्व स्वयंसु प्रकट।
पीछे ठहरा गुफा में, हृत् प्रविष्ट अव्यक्त ॥ १६ ॥
अपने को जो देखता, सभी पदार्थ भिन्न।
स्वस्वरूपसे सर्वथा, वही यह आत्मा अच्छिन्न ॥१७॥
दैवी शक्ति अखण्डिता, परमात्मोत्पन्न।
हृत् प्रविष्ट रही ठहर जो, सर्व भूतसे भिन्न ॥ १८ ॥
हुई सुप्रकट विभिन्न ही सभी की जीवन जान।
वही शुभात्म तत्त्व तू जीवात्मा पहिचान ॥ १९ ॥
समिधा में छिपी आग ज्यों गर्भवती का गर्भ।
ज्यों किया धारणा गुप्त ही, त्यों आत्मा भूगर्भ॥२०॥
जिसकी स्तुति प्रति दिन करें, हवन में जाग्रत मनुज।
सर्वज्ञान शुभ शक्ति युत्, वही यह अग्नि सुयज्ञ॥२१॥
उस ही अग्नि आत्ममें है अर्पित सभी देव।
सूर्य वहीं उदयास्त हो, उसकी करे सुसेव ॥ २२ ॥
उसे उलांघे कोई न, कभी देवता मनुज।
वही सुअमृत तत्त्व यह, वह सर्वतः प्रज्ञ ॥ २३ ॥
जो ही इस संसारमें, वही टिका परलोक।
दिव्यधाम उसमें टिका, वही पुनः इह लोक ॥२४॥
भेद जो देखे तत्त्व इस, में पावे वह मौत।
जन्म मरणके चक्रमें फिर फिर पावे मौत ॥ २५ ॥
चाहिये पाना विचारसे, यह अभेदका तत्त्व।
मतभेद इस विषयमें, न कुछ भी, है यह सत्य ॥२६॥
फिर भी जो देखे भेद इस, विषयमें, उसकी मौत।
हो जाती है जन्मके, पीछे फिर फिर मौत ॥ २७ ॥

इस शरीरके मध्यमें, पुरुष अङ्गूठा मात्र।
धुएं रहित प्रकाशवत्, पुरुष अङ्गूठा मात्र ॥ २८ ॥
टिका वही हृद्धाममें, भूत भविष्यत् ईश।
वही आज, था कल वही, वही त्रिकालाऽधीश ॥२९॥
वही शुभात्म तत्त्व है, परमात्मा वाम।
जान उसे पहिचान फिर, निन्दासे क्या काम ॥ ३०॥
दुर्गम ऊंची शिखरपर, भी वर्षा यदि हो।
दौडे पर्वत मध्य ही, जल जो बरसा हो ॥३१॥
भिन्न भिन्न ही मार्गसे, त्यों दौडे वह बाल।
लक्षण देखे भिन्न जो, उन पीछे सब काल ॥ ३२ ॥
सींचा गया शुद्ध क्षेत्रमें, जैसे जल सुपवित्र।
हो जाता तदाकार ही, क्षेत्र रूप सुपवित्र ॥ ३३ ॥
जगदीशको पाय त्यों, सर्वग हों जाय आत्म।
विज्ञानी उस मुनिका, देखा जिस परमात्मा ॥३४॥

पांचवी वल्ली।

नहीं कुटिलता चित्तमें, जन्म न लेगा और।
उसके नगरके द्वार हैं, ग्यारह, ग्यारहवां सौर ॥ ३५ ॥
ग्यारह-वां शुभ द्वार जो, सुषुम्ना शुभनाम।
उस में ठहरा जीव जब, पाय वह सु-विश्राम ॥ ३६ ॥
शोक न पावे वह कभी, हुआ विषयसे मुक्त।
योगारूढ सुस्थिति में, कहां सुजीवन मुक्त ॥ ३७ ॥
यही वह आत्म तत्त्व है, हंस कहा मुनिराज।
स्थित सुशुद्ध स्थान में, गुफा में रहा विराज ॥ ३८ ॥
आकाश में हृदय के, वसे अतः यह वसु।
होता बैठा मूर्द्धा वेदि में करे क्रतुः ॥ ३९ ॥
गृह में मन यजमान के, बैठा अतिथि जीव।
बैठा नेता प्राण अरु मन श्रेष्ठमें जीव ॥ ४० ॥
ऋत प्रकृति में बैठकर, व्योमाकाश में स्थित।
जल भूमि नदि पर्वतों में प्रसिद्ध सुस्थित ॥ ४१ ॥
ऐसा सत्य महान वह, ज्ञानी बडा यथार्थ।
हुआ प्राप्त परमात्म को, जीव हंस चरितार्थ ॥ ४२ ॥
ऊपर प्राण ले जाय जो, फैंके नीचे अपना।
लगातार यूं कर रहा मध्य में बैठा वाम ॥ ४३ ॥
ज्यों वामन अवतार हो, सर्वशक्ति का वह।
त्यों अति सूक्ष्म जीव है, प्राण के पीछे वह ॥ ४४ ॥
सभी दिव्य गुण शक्तियां, ज्ञान इन्द्रियां कर्म।
विश्व देव अंतःकरण, उसे उपासे सुशर्म ॥ ४५ ॥

टिके शरीर में जीव का, बन्धन ढीला हो।
फिसल रहा वह देहि जब, त्याग रहा देह को ॥४६॥
निकल रहे यूं ढलकते, के पीछे बचा कौन।
शुभ परमात्मा तत्त्व वह, ही यह रहा वच जौन ॥४७॥
निकल गया जो फिसल कर, देहसे अपने आप।
वही यह आत्मा जीव है, हुआ जो अब निष्पाप ॥४८॥
प्राणसे जीता मनुज न, जिये अपानसे कौन ?
जीते हैं उस अन्यसे, दोनोंका आश्रय जौन ॥४९॥
अत्यन्त गतिशील ज्यों, हो मरे पीछे आत्म।
तुझे बताऊं प्रिय मैं, धारक देहका आत्म ॥ ५० ॥
नित्य सनातन छिपा जो ज्ञान कर्म अनुसार।
पा जाय स्थिर शुभ ब्रह्मको, कोई सुमरण अनुसार ॥५१॥
अन्य देहधारी जीव जो, लेने नया शरीर।
जायं भिन्न भिन्न योनि में, जन्में फिर सशरीर ॥५२॥
सोये हुओं में जागता, जो यह पुरुष शुभ काम।
निर्माण कर कामना, विषय विचार सुकाम ॥ ५३ ॥
उसीके आश्रय लोक सब, उसे उलांघे न को।
सोये जगाता है वही, स्वप्न दिखावे सो ॥ ५४ ॥
वही यह अमृत तत्त्व, है कहा शुक्र अरु ब्रह्म।
देह धारक, करे शीघ्रही, आत्मा अमर अजन्म ॥५५॥
वही आत्मा सब भूतका, अन्दर रहा विराज।
बाहर भी वही एक ही, विविध रच रहा साज ॥५६॥
घर में ज्योति प्रविष्ट ज्यों, भिन्न रूप रही धार।
एक ही त्यों वह आत्मा, भूतरूप रहा धार ॥ ५७ ॥
अग्नि वायु तो वही हैं, जिन किया घर में प्रवेश।
ाति वस्तु में व्यापकर, धारे रूप अनेक ॥ ५८ ॥
ने ही वही आत्मा, अन्दर से जो टोक।
हा है वस्तुमात्र को, बाहर से भी रोक ॥ ५९ ॥
धारता रूप अनेक है, भूतों के ही समान।
अग्नि वायु इक रूप ज्यों, धारें वस्तु समान ॥ ६० ॥
सभी भुवन दिखला रहा, सभी की आंख को सूर्य।
बाहरी आंख के दोष से, नहीं दुष्ट हो सूर्य ॥ ६१ ॥
यद्यपि रश्मि द्वार से, कर रहा उन में प्रवेश।
सूर्य आंख सभी मनुज की, लिप्त न हो लवलेश ॥६२॥
जन दुःख से नहीं दुखित हो, त्यों सर्वान्तर आत्म।

एक ही उन में प्रविष्ट भी, पृथक बाहर यत: आत्मा॥६३॥
अन्दर ही में भूत सब, को करे एक ही वश।
आत्मा एक ही रूप को, कर रहा विविध विशेष ॥६४॥
अपने में ही स्थित उसे, पुनः जो देखें धीर।
नित्य निरन्तर सुख वही, पावें, न अन्य अधीर ॥६५॥
जड अस्थिर देह भूत में, चेतन नित्य वह आत्म।
चेतन जीवों में परम, सर्वज्ञ परमात्म ॥ ६६ ॥
सकल करे बहु कामना, बहुतों की वही एक।
धीर जो देखें आप में, टिका वही फिर एक ॥ ६७ ॥
नित्य सनातन शान्तिः, उन्हें मिले शुभ शान्त।
अन्य को कब हूं न मिले, रहें अधीर अशान्त ॥६८॥
'वह यह है' यही मानते, अकथनीय पर सुख।
'वह' कैसे हम जान लें, नहीं पाया जब सुख ॥६९॥
वहां है क्या कुछ चमकता, या करता सुप्रकाश ?।
ज्योति छटा वहां अग्नि की, या विद्युत प्रकाश ॥७०॥
कहां से चमके अग्नि यह, विद्युत् ये न प्रकाश।
तारे चान्द अरु सूर्य भी, वहां न करें प्रकाश ॥७१॥
पहिले चमकता वह स्वयं, फिर चमके संसार।
उसी एक की ज्योत् से, यह सारा शुभसार ॥७२॥

छठी वल्ली

कल तक भी जो न रहे, इसी आज के रूप।
ऐसा यह संसार है, अश्वत्थ शुभ रूप ॥ ७३ ॥
कारण इस का नित्य है, अतः सनातन यह।
परमात्माऽश्रित प्रकृति, मूल उत्तर शुभ यह ॥ ७४ ॥
महत् चित्त आकाश अरु, अन्य सृष्टि के रूप।
सभी यह निचली शाख हैं, उस अश्वत्थ के रूप ॥७५॥
पर जिस ब्रह्म के आश्रित, सभी लोकी अरु लोक।
जो शुक्र न उलांघते, कोई लोकी या लोक ॥ ७६ ॥
कहलाता अमृत वही, यही वह आत्मतत्त्व।
जिस से निकला सभी कुछ, जग का जीवन-तत्त्व ॥७७॥
कंपाता संसार को, खड़ी हुई तलवार।
ज्यों उपस्थित महां भय, महाकाल यमराज ॥ ७८ ॥
इस रीति से जानते, यह परमात्मतत्त्व।
अमर जायं हो सभी वे, जान यह निश्चित सत्य ॥७९॥
उस के ही डर से तपें, विद्युत सूरज आग।
वायु विद्युत पांचवीं, मौत दौड़ते साथ ॥ ८० ॥

बुद्धिगुफामें स्थित सदा, हृतकोटरमें स्थित ॥११२॥

देह से फिसलने पूर्व ही, यहीं सका यदि जान ।
उस पर-ब्रह्म समर्थ को, यदि सका पहिचान ॥ ८१ ॥
सब भुवनों अरु सृष्टियों, में स्वतन्त्र ही फिर ।
धार सकेगा शरीर वह, जब चाहे जहां फिर ॥ ८२ ॥
दर्पण में प्रतिबिम्बवत्, आत्मा में दिखे सब ।
सहज समाधि में भक्त को, जगत ब्रह्म अन्य सब॥८३॥
स्वप्न में देखी मूर्तियां, त्यों पितरों का लोक ।
जाग्रत् स्वप्न में देखता, भक्त हरे निज शोक ॥ ८४॥
घिरे हुए सभी ओरसे, अनुभव हो जल बीच ।
घेर रहा सभी ओरसे, गन्धर्व रहा दीख ॥ ८५ ॥
उजियाले प्रकाशवत्, परमात्मा जीवात्म ।
साक्षात ब्रह्मलोक में, हो जाते दोऊ आत्म ॥ ८६ ॥
जीवात्मा से पृथक हैं, देह इन्द्रियां सब ।
उत्पन्न हो कर पुनः, मर जायं यह सब ॥ ८७ ॥
हों उत्पन्न रहें पृथक्, जीवात्मा से यह ।
यूं विचार धृति धीर नर, शोक करे न नेह ॥ ८८ ॥
उत्तम है मन परे ही, इन्द्रिय गण से सूक्ष्म ।
बुद्धि मन से परे है, चित्त बुद्धिसे सूक्ष्म ॥ ८९ ॥
महत् चित्त से सूक्ष्म है, प्रकृति जो अव्यक्त ।
उस से उत्तम पुरुष है, वही परम अव्यक्त ॥ ९० ॥
व्याप रहा सुख दे रहा, बिना चिन्ह ही पुरुष ।
पहिचाना जाता नहीं, इसी लिये वह पुरुष ॥ ९१ ॥
पर प्राणी जो जान ले, इसे देह से छूट ।
अमर जाय हो तुरत ही, देह का पिंजरा टूट ॥ ९२ ॥
नहीं निगाह में ठहरता, इसी पुरुष का रूप ।
देख इसे कोई न सके, आंखसे, है वह अरूप ॥९३॥
मन, बुद्धि अरु भावना, से समर्थ अव्यक्त ।
जो जानें इन से इसे, प्राप्त करें अमरत्व ॥ ९४ ॥
पांचों साधन ज्ञान के, टिक जायं जब मन साथ ।
बुद्धि उलटी न चले, वही परम गति साध ॥ ९५ ॥
कहें, योग मानें इसे, हों साधन सब स्थिर ।
धार लिये जब जीव ने, अपने वश में स्थिर ॥ ९६ ॥

हो मद नहीं अज्ञान का, तब यह स्थिरता योग ।
अभिव्यक्ति परमात्म की, प्रकृति का लययोग ॥९७॥
वाणी, मन अरु आंखसे, नहीं हो सके प्राप्त ।
'है' कहते से भिन्न यह, हो कैसे सके प्राप्त ॥९८॥
वास्तव दोनों आत्म का, प्राप्त करे 'है' भाव ।
'है' भाव हुए प्राप्तका, आनन्दित निज भाव ॥९९॥
आश्रित हैं जो हृदय के, इसकी इच्छा काम ।
जब सब छूटें सर्वथा, मनुज होय निष्काम ॥ १०० ॥
नाशवान् प्राणी तभी, फिर हो जाय अमर ।
परमात्मानन्द भोगता, यहीं सुब्रह्म अमर ॥ १०१ ॥
कट जायं अच्छी तरह इस, के हृदयकी जब गांठ ।
मनुज अमर हो जाय तब, यह शिक्षा वेदान्त ॥१०२॥
हृद सम्बन्धि नाडियां, हैं अनन्त सह एक ।
माथे को उनसे निकल, चली गयी है एक ॥ १०३ ॥
विविध योनि साधन बनें, मरण समय वे अनन्त ।
एक से ऊपर चढे जो, अमर हो जाय सुसन्त॥१०४॥
मनुज-मात्रके हृदय में, बैठा अन्दर आत्म ।
अन्गूठे जितना पुरुष, उसे निकाले शुभात्म ॥१०५॥
देह अपनी से तीर-वत्, मंज में से सह धैर्य ।
शुक्रामृत जानें उसे, धारे उसे सह धैर्य ॥ १०६ ॥
पूरी रीति योगकी, यह शुभ उत्तम ज्ञान ।
तब नचिकेता प्राप्त कर, यम का कहा विज्ञान॥१०७॥
तर गया पाप अरु मौतको, प्राप्त कर गया ब्रह्म ।
और भी पावे फल यही, जो यूं जानें ब्रह्म ॥१०८॥
यह अध्यात्मज्ञान अर, तद् ज्ञेय भगवान् ।
रक्षा करें हम दोऊ की, शक्ति शालि भगवान्॥१०९॥
हमें भुगावें भोग शुभ, शक्ति बढावें हम ।
इक दूजे की सदा ही, द्वेष करें न हम ॥११०॥
पढा पढाया उपनिषत्, हम दोनों ही का ।
प्र-काशित हो सदा ही, तेज बढे दोऊ का ॥१११॥
शान्तिः शान्तिः पुनः शान्तिः हों शान्त त्रय ताप ।
भगवन् आप की कृपा से, आप सदा निष्पाप ॥११२॥

मृत्युसे कुमारको मिले तीन वर !

(13)

[ले० — श्री० हलियारामजी कश्यप, एम्. एस्सी.]

अन्नदान से महान् यश उपलब्ध किये एक ऋषी का पुत्र वाजश्रवस हुआ है। इतिहासकार कहता है कि जब उस को मुक्तिकी प्रबल कामना हुई तो अपनी सम्पूर्ण धन, सम्पत्ति आदि उसने दान कर डाली यहां तक कि बुड्ढी दुर्बल गौएं भी दे ही डालीं।

उस के एक नचिकेता नामी पुत्र था जो यद्यपि अभी था तो कुमार ही परन्तु विविध यज्ञ, यागमें उत्तमोत्तम गौओं को दक्षिणामें दी जाती हुई पूर्व समयोंमें जो वह देखता रहा था इस कारण सत्यका ज्ञानधारण करानेवाला शुभ विश्वास, श्रद्धा, धर्म उस के हृदयमें पूर्णतया घर कर चुका था अतः अब पिता द्वारा निकम्मी गौओं का दान देख कर उसकी श्रद्धाने उसे प्रेरा, और वह विचारने लगा कि, निकम्मी गौएं जो दूध दे चुकीं, घास खा चुकीं, पानी पी चुकीं, इन्द्रियां अङ्ग जिन के दुर्बल रुग्ण हो रहे हैं और अब जो खाने पीनेमें भी असमर्थ हैं तो दुध तो क्या देंगी ऐसी गौओं-का जो दान करता है वह तो ऐसे ही लोक इस दानके फलस्वरूप प्राप्त करेगा, जिनमें सुख, प्रसन्नता, आनन्द का नाम तक नहीं। इस हृदय-क्षोभसे उसे साथ ही विचार आया कि यदि तो मेरा पिता मुजे भी इन गौओं की न्यायीं ही दान कर डाले तब तो उसे गौदान पाप भी न लगेगा फिरतो उसका वास्तविक सर्वस्व दान हो जायगा और वह मुक्तिका अधीकारी भी हो सकेगा परन्तु यदि बुड्ढी निकम्मी गौएं तो दान कर दे और पुत्र अपना ही बनाए रक्खे तो सर्वस्व दान कैसे होगा? फिर तो गौदान भी पाप ही होकर लगेगा-

इस विचार शृङ्खलामें जकडे हुए उसने अपने पितासे पूछा कि आप मुझे किस को दान रूपमें दे डालेंगे। पीता चुप रहे। उसनेफीर दूसरी वार पूछा वहफीर भी चुप ही रहे। पर वह कुमार तो व्यग्र हो रहा था वहबिना उत्तर लिये कैसे संतुष्ट हो सकता था? तीसरी बार फिर भी वह पूछ ही बैठा। तो पिता घाबरा कर अचानक जल्दीमें कह बैठा "तुझे दूंगा मौतको।" बात सच्ची भी है मानव देह का दान तो कालाग्नि ही लेती है नचिकेता स्यात इस उत्तर के लिये तैयार नहीं था। वह फिर नवीन विचार परम्परामें उलझ गया कि मैं बिलकुल निकम्मा तो हूं ही नहीं कि पिता मुझे मौत को दे बरञ्च मैं बहुत से अपनी ही वायु के बालोंसे उत्तम हूं और बहुतसों जैसा हूं पर हीन न्यून तो मैं किसीसे हूं नहीं फिर पिता मेरी मृत्यु क्यों चाहता है। साथ ही एक बात और भी ही वह यह कि यमका भी ऐसा कौनसा कार्य अधूरा पडा है जो आज केवल मेरे द्वारा ही पूरा उतर सकता है। इस विचार से वह कुछ अपने आपमें समझ न सका कि सत्यवादी पिता का इस कथन से तात्पर्य क्या हो सकता है?

उधर पिता भी तनिक शान्त हुआ तो अपने मनमें व्याकुल हुआ कि यदि वास्तवमें यमराज मेरे प्रिय वत्स को ले गये तो मैं तो जीता ही मर गया इससे वह खूब सटपटाने लगे! तडपने व्याकुल होने लगे कि हाय मैं क्या बक बैठा।

नचिकेताने उन्हें धीरज दिलाने परन्तु सत्य पर दृढ रखने के लिये कहा 'कि पूज्य पिता! पूर्व कालीन सत्यवक्ताओंने जिस प्रकार सत्यपालन किया उस को ध्यान से अब देखो आज कल का सत्यवक्ता जिस प्रकार वचन पूरा करते हैं उस को भी विचारो। फिर यह भी सोचो कि मनुष्य देह कोई सदा रहनेवाली तो है ही नहीं बरञ्च खेती की न्यायीं पक कर काट डाली जाती है और फिर नये सिरेसे उत्पन्न करा दी जाती है ऐसी क्षण-

भङ्गुर देहके निमित्त क्यों मनुष्य वचन से फिरे।''
इससे पीता को धैर्य हुआ प्रसन्नता हुई कि वास्तवमें पुत्र सच कह रहा है और उसने पुत्र को यमके पास जानेकी आज्ञा दे दी नचिकेता भी चल पडा। आगे यम के घर पहुंचा तो तीन रात तक तो यमराज से भेंट ही नहीं हो सकी, तब तक नचिकेता अन्नजल किये बिना ही वहीं यम के घर टिका रहा स्यात् यम कहीं बाहर गये हुए होंगे घर आये तो या तो उनकी रानीने उनसे कहा या उन्हें स्वयं ही विचार आया कि भक्त ब्राह्मण घूमता घूमता जो अचानक किसी गृहस्थीके घर प्रवेश कर बैठता है तो वह संसार को सीधे रास्ते पर ले जानेवाला उस गृहस्थीके लिये साक्षात् आग होता है क्योंकि यदि अप्रसन्न हो जावे तो कालाग्नि बन जाता है इस कारण गृहस्थी जन ऐसे भक्त को शान्त, तृप्त, सुप्रसन्न, करते हैं इस लिये हे विवस्वान् के पुत्र यम! आप भी इस के लिये अर्घ्य, पाद्य, आचमन, आदि निमित्त जल लाओ और आसन अन्न आदि से इनका सत्कार करो। इसे तृप्त करो कि यह ब्रह्माग्नि आप गृहस्थी को भस्म न कर डाले क्योंकि अभ्यागत भक्त ब्राह्मण जिस न्यून बुद्धिवाले गृहस्थी के घरमें भूखा रहता है उस की सभी जडों को काट डालता है। पुत्र पशु उस के मरते हैं अभ्युदय निःश्रेयस निमित्त किये गये उसके शुभ कर्मों का फल नष्ट हो जाता है सत्सङ्गति उसे प्राप्त नहीं होती, मीठी, प्यारी, हितकारी, वाणीसे वह दूर जा पडता है आशाएं उसकी उन्नति आदि की रहती नहीं प्रीयजनों आदिके मिलन की प्रतीक्षासे भी वह वञ्चित् हो जाता है। तात्पर्य यह कि गृहस्थि के द्वार पर आया ब्राह्मण यदि भूखा वहां पडा रहे तो कालाग्नि समान उसे भस्म कर डालता है।

इसपर यमराज नचिकेता से बोले कि—

हे नचिकेता! तू अभ्यागत भक्त बाल मेरे घरमें तीन रात भूखा बसा है अतः हे ब्राह्मण! आप नमस्कार किये जाने योग्य हैं अतः आप को मेरा नमस्कार हो ताकि मेरा कल्याण हो इस लिये प्रतिरात्रि एक एक वर मान कर आप तीन वर मुझसे मांग लीजिये कि मैं ब्रह्मशापमें जकडा न जाऊं।

नचिकेताने इस आज्ञा को शिरोधार्य कर प्रथम वर यह मांगा कि:—

'हे मृत्यु! वाजश्रवा का पुत्र मेरा पिता गौतम प्रसन्नमन हो जावे। सङ्कल्प विकल्प शान्त हो कर उसका मन टिक जावे। क्रोध सर्वथा उसको अब न आया करे। आप यदि मुझे उसके पास लौटा भेजे तो वह फिर घबरावे न, वरञ्च तृप्त शान्त प्रसन्न हो कर मेरा सत्कार मान कर मुझसे प्रेमालाप करे। आगे की तरह मेरी बात से घबरा न जावे। तीनोंमें से पहिला वर तो आपसे मैं यही मांगता हूं।

यमराज बोले 'कि हे नचिकेता! मैं तुम्हें यह वर देता हूं कि जब मेरा भेजा हुआ तू वापिस पिता के पास जायगा वह अरुण, उद्दालक आदिका वंशज तुझ मौतके मुखसे सर्वथा छूटे हुए को देखने के लिये अत्यन्त उत्सुक होगा। क्रोध तो उसका कभीका उतर चुका होगा। रात्रिमें तुम्हें पा चुकनेके कारण सुखकी नींद सोएगा और जैसा आगे इस घटनासे पूर्व तुमसे तृप्त सुप्रसन्न रहा करता था अब फिर वैसा ही तृप्त सुप्रसन्न रहा करेगा।

यह वर प्राप्त कर नचिकेता दूसरे वरकी याचना यमराजसे इस प्रकार करने लगा कि हे यमराज! हे मृत्यु भगवान्! स्वर्गलोकमें भय कुछ भी नहीं होता न तो वहां आप होते हैं और नहीं वहां कोई बुढापेसे डरता है। भूक प्यास दोनों ही को तैरकर शोकसे सर्वथा पार जा चुका हुआ व्यक्ति स्वर्गलोकमें आनन्द मनाता है हां यह बात है कि स्वर्गकी प्राप्ति जिस यज्ञसे होती है उस यज्ञके विषयमें आप ही जानते हैं मुझे इस विषयमें बडी श्रद्धा है कृपया वही मुझे समझाकर पढाइये क्योंकि स्वर्गलोकी अमृतभोग सेवते हैं वह कभी मरते नहीं। अतः यही स्वर्ग साधिका अग्नि दूसरे

वरके रूपमें आपसे मैं वरता हूं मुझे इसका ज्ञान करवाइये।' महाराज यमने उत्तर दिया ' कि हे नचिकेता! मैं तुझे वही अच्छी प्रकार बतलाता हूं मुझसे तू वह भली प्रकार समझ ले। मैं इस स्वर्ग साधक यज्ञका पूरा ज्ञान रखता हुआ तुझे वही ज्ञान देता हूं तू इसे ग्रहण कर। जिस अग्निमें यह यज्ञ किया जाता है वह हृदय की गुफामें रक्खी हुई वही गुप्त छिपी पडी है तू इसे जान और इसे ही सम्पूर्ण लोक लोकान्तर का आश्रय आधार समझ। अनन्त योनियां तथा उनके निवासस्थान लोक लोकान्तर सभी इसीसे सम्बद्ध हैं यही सब में व्याप्त है और इसीमें सब ओत प्रोत हैं।

तब यमराजने नचिकेताको उस अग्निका वृत्तान्त सुनाया। जिस कारण रूपसे सभी लोक कार्यरूप बनते हैं जो सभी लोकोंका आरम्भ है जो इस इष्ट अग्निके ज्ञान करवानेके साधन हैं वह इष्टका धर्म क्या, कितने और कैसे हैं वह सभी बतलाए। जैसे यमराजने वर्णन किया वैसे ही नचिकेताने सारा उसे सुना दिया। तब मृत्यु देव प्रसन्न होकर फिर इस नचिकेतासे प्रेमसे बोले।

महात्मा यम पुलकित हो कहने लगे "सोम्य! वत्स! प्रिय नचिकेता! आज तुम्हें फिर एक और वर देता हूं यह अग्नि इस संसारमें तेरे नाम पर ही प्रसिद्ध हो जायगी नाचिकेताग्नि ही यह अबसे लेकर कही जाया करेगी। मैं तुझे यह सुसज्जित माला भी देता हूं देख इस में कितने सुन्दर विविध रूप रङ्ग भर रहे हैं। इसे भी तुम निःशङ्क होकर ग्रहण करो"

परमात्मासे उत्पन्न वेद द्वारा जाना जाने योग्य जो महादेव स्तुति किये जाने योग्य हैं, उस प्रजा पति अग्निको जानकर इसके विषयमें दृढनिश्चय कर तत्त्व व्यतिरेकसे उसे सर्वथा पृथक् रूपेण अनुभव कर भक्त परा, शान्तिको प्राप्त करता है, जन्म मृत्युके पार तैर जाता है, क्यों कि उसने मनुष्य, पितर, देव तीनोंसे तद्विषयक अतिथि, पितृ, तथा देव यज्ञ द्वारा मेल प्राप्त कर लिया है इन तीन शुभकर्मों द्वारा उसने इन तीनोंकी सहानुभूति प्राप्त कर ली है इसीने नचिकेत यज्ञ तीनोंके सम्बन्धमें पूरा [illegible] किया है वही स्वर्ग प्राप्त करता है।

तीनोंके सम्बन्धमें नचिकेत यज्ञ करके इन तीनों के यथार्थ वास्तव तत्त्व स्वरूपको जान क[illegible] फिर भी जो विद्वान् इसी प्रकार नचिकेत यज्ञ कर[illegible] [illegible] जाता है वह पहिले तो मौतके बन्धनसे [illegible] छुटकारा पा लेता है फिर शोकसे [illegible] रहित हो जाता है और स्वर्गलोकमें [illegible] मनाता है।

हे नचिकेता! यही वह स्वर्ग साधिका [illegible] जो तूने दूसरे वरके रूपमें मांगी है अग्निको जनता तेरी ही कहा करेगी अब [illegible] वर भी मांग ले।

नचिकेता यह आज्ञा पाकर बोला "[illegible] मैं वरोंमेंसे तीसरा वर तो अब यही मांगता कि आपसे पढाया गया मैं यह रहस्य जा[illegible] कि मरनेपर मनुष्यका क्या बनता है। इस विष[illegible] उपस्थित वर्ग घबराते हैं कोई कहता है कि [illegible] भी यह है और कोई कहता है कि अब यह नहीं [illegible] जनतामें सभी इन दोनोंमेंसे एक मतका प्रदर्शन करते हैं पर वास्तव ज्ञान इस विषयमें किसी [illegible] भी नहीं सभी सन्देह ग्रस्तही हैं इसीलिये आप[illegible] यही ज्ञान तीसरे वर रूपमें मांगता हूं।

एक बालकको ऐसी परलोककी बात बतलाने [illegible] यम हि चकचाने लगे और यह यत्न करने लगे कि किसी प्रकार यह स्वयं ही कोई अन्य वर [illegible] के स्थानमें मांग ले जिससे कि मेरा प्रण पूरा हो जाय और यह रहस्य भी छिपा ही रह जावे। वह कहने लगे-

'वत्स! यह भेद सूक्ष्म है,यह सुगमतया ही पूरा पूरा जाना नहीं जा सकता। देवते भी आरम्भसे ही इस विषयमें संदिग्ध ज्ञान ही रखते रहे हैं तू तो मनुष्य और वह भी एक बाल ठहरा। तू कोई और वर मांगले नचिकेता! हठ न कर, मुझे विवश न कर' इस विचारको छोड दे। परे पीछे क्या होता है तुझ बालकको इस चिन्तामें पडने की क्या आवश्यकता है?

नमस्कार हो ताकि मेरा कल्याण हो इस लिये

नचिकेता था तो बालक पर बुद्धि, अनुभवी, युवा अथवा वृद्धोंसे भी उसकी अधिक उन्नत थी। झट बोल उठा–

'सच है कि देव इस विषयमें पहिले से ही सन्देह करते चले आये हैं आप साक्षात् मृत्यु भी इस "मृत्यु पीछे क्या होता है" प्रश्नको बडा कठिन बतलाते हुए कहते हैं कि "यह सुगमतया समझमें आनेवाला नहीं यह प्रश्न बडा जटिल है" परंतु मुझे तो अभी यह विचार आरहा है कि इन्हीं कारणों से तो आप जैसा दूसरा आचार्य इस प्रश्न का उत्तर देनेवाला मिल भी नहीं सकता। आप साक्षात् मृत्यु ठहरे आप के समझाने परभी यदि 'मृत्यु-प्रश्न' में समझ न पाऊं तो और से क्या मुझे प्राप्त हो सकेगा। अतः मेरी दृष्टिमें तो अन्य कोई भी वर इस के बराबर नहीं है।'

यमराज अब उसके वैराग्य की परीक्षा लेते हैं कि आया यह इस प्रश्न के उत्तर प्राप्त करने का अधिकारी भी है या नहीं। वह इस आशय से उसे लालचमें फंसाने की चेष्टा करते हुए बोले–

'इस वरके तुल्य यदि तू समझे तो मैं तुझे ऐसा कर सकता हूं कि जो भी तेरी इच्छा हो वह सभी पूरी हो। सौ वर्ष की आयु भोगनेवाले बेटे पोते, बहुत उत्तमोत्तम हाथी, घोडे, गौ आदि पशु, बहुत धन दौलत, आयु भरके लिये पर्याप्त धन आदि जीवन निर्वाह सामग्रि, जितने सैंकडे वर्षों की चाहे उतनी लंबी आयु, विस्तृत विशाल भूमि क्षेत्र, सम्पूर्ण भूमण्डल पर राज्य, और इनसे भी अधिक कठिनता से प्राप्त होने योग्य जो भी अन्य योग्य पदार्थ तू चाहे वह निःशङ्क होकर मुझ से मांगले मैं सभी कुछ तुम्हें दे सकता हूं! यह रमणियां साज सजी रथारूढ मैं तुम्हें साज रथ समेत देता हूं इस नाशवान् संसारमें मानवों को ऐसी कब मिल सकती हैं परन्तु मैं स्वयं तुम्हें यह सभी देता हूं तू इन से स्वछन्द आनन्द मना, पर हे वत्स! प्रिय! सौम्य! कुमार नचिकेता! मरने की बात न पूछ। तुझ बाल के मुख से यह प्रश्न शोभा नहीं देता। छोड दे यह झगडा। हठ न कर। मेरी बात मेरे पास ही रहने दे।'

नचिकेता भला कब इस भुलावेमें आनेवाला था। जो सर्वस्व दानी की भी न्यूनता भांप सका था वह ऐसे उत्तम अवसर पर कब चूक सकता था तुरन्त बोल उठा –

'भगवन्! यह जो विविध पदार्थ आपने गिनाए हैं यह सभी दिन दिनमें बदलनेवाले हैं क्षणभङ्गुर, अस्थायी, अनित्य, नश्वर, तो स्वयं हैं ही पर साथ ही हे सृष्टि का अन्त करनेवाले यमराज! इस मरणधर्मी मनुष्य की इन्द्रियों की शक्ति ज्योति तेज इन विषयों के भोगनेपर क्षीण, मन्द हो जाती है और शनैः शनैः जब अनेक इन्द्रियां मद्धम पड जाती हैं तो मनुष्य बुड्ढा कहा जाने लगता है अतः मेरी रुचि इनमें नहीं और जो आपने आयु की बात कही सो जब वह सीमित् है फिर चाहे कितनी भी लम्बी क्यों न हो फिर भी थोडी ही है और जब भी समाप्त होगी तभी बुरा लगेगा। अतः रथ, नाच, गान, साज, सजी, रमणियां अपनी अपने पासही रक्खें मुझे इनकी आवश्यकता नहीं। आयु की न्यायीं ही धन भी है इससे भी मनुष्य की तृप्ति नहीं होती सन्तोष नहीं आता चाहे कितना भी अधिक धन मिल जावे। साथ ही यहभी बात है कि यदि आप का स्वरूप जान लिया तो धन मिल ही गया इस से बडा धन और कौनसा हो सकता है कि आप के दर्शन हो जाएं! जब आप की कृपा-दृष्टि होगी तो धन अपने आप मिल ही जायगा। इसी प्रकार जब तक आपका शासन है तब तक जीते तो रहेंगे ही। इस कारण आप से मांगने योग्य वर तो मेरे समीप वही एक है। 'वह,' अज्ञात् मृत्यु के पीछे भी जो रह जाता है वही मैं आपसे वरणीय समझता हूं। महाराज! जरा मृत्यु रहित आप जैसों के पास यदि कोई मुझ सदृश मरणधर्मी पहुंच पाया हो जो कालान्तरमें बुड्ढा भी होगा और मरेगा भी। दुःखदायी पृथ्वीलोक में निवास का आप के लोकमें निवास से अन्तर अनुभव करता हुआ कौन लम्बी आयु को सुख

समझे केवल इतनेसे लालच से कि सुन्दर रंग-रूपवाली युवतियोंसे आनन्द, विहार, मोद, प्रमोद का अवसर पृथ्वी पर मिलता है। यह ध्यान से देख कर कि यह आनन्द निन्दनीय है नीच कोटि का है और आपसे प्राप्तव्य आनन्द और ही प्रकार का सच्चा आनन्द है यह जानता हुआ लम्बी आयु कौन मांगे ? हे मृत्यु ! जिस महान् उत्तम परमधाम के विषयमें देव, मनुष्य सभी भ्रम-ग्रस्त हैं वही हमें बतलाइये यह जो सम्पूर्ण संसार-में अणु परमाणु में भी प्रविष्ट छुपा पडा है वही यह सूक्ष्म रहस्य मेरे वर्ण करने योग्य है यही मेरे अङ्ग, प्रत्यङ्ग, इन्द्रिय, तेज आदि गूढसे गूढ अन्तरङ्गोंमें भी व्याप रहा है इससे भिन्न नचिकेता अन्य कुछ नहीं मांग सकता।

दूसरी वल्ली।

इस प्रकार नचिकेता की परीक्षा करके यम-राजने निश्चय कर लिया कि वास्तवमें नचिकेता अधिकारी है और वह अब उसे उस का मांगा ज्ञान यूं देने लगः—

भिन्न भिन्न पदार्थों के सम्बन्धमें मनुष्य को दो ही दृष्टिकोन बांधे रखते हैं वह किसी को लिये कल्याणकारी समझता है और किसी को प्यारा जानता है यही दो मार्ग हैं जिन पर सभी चलते हैं कोई उन पदार्थोंका उपभोग करता है जिन्हें वह प्रिय समझता है और कोई उनका संग्रह करता है, जिन्हें वह अपने लिये कल्याणकारी अनुभव करता है। इनमेंसे कल्याणकारी मार्ग पकडनेवाले का कल्याण हो जाता है परन्तु जो प्रिय मार्ग पक-डता है उसकी हानि हो जाती है जीवन निरर्थक नष्ट गवा जाता है अपने उद्देशसे गिर जात है, अभ्युदय निःश्रेयस प्राप्त नहीं कर पाता। सदा मनुष्यके सामने यही श्रेय और प्रेय मार्ग उप-स्थित रहते हैं उनसे घिरा हुआ बुद्धिमान् तो उन्हें भिन्न भिन्न पहिचान लेता है और सभी बातोंपर अच्छी प्रकार विचार कर उनको सर्वथा पृथक् अनुभव करता है और प्रेय की ओर जाती वृत्ति का दबाकर धैर्यपूर्वक श्रेय मार्गका अवलम्बन करता है प्रेय छोड श्रेयको स्वीकार करता है परन्त न्यून बुद्धिवाला तो प्रेयको ही वरता है क्यों कि उसे इसमें यह लालच होता है कि मुझे अनेक प्रिय पदार्थ मिलेंगे और मेरे पास वह रहेंगे भी। प्रिय, मनके अनुकूल, इष्ट, भोगोंको प्राप्त और संग्रहके लोभमें फंस कर मन्दबुद्धि प्रेय मार्गकाही अवलम्बन करता है।

'परन्तु हे नचिकेता! उस तुझने तो प्यारी और प्यारा दिखनेवाली कामनाओंको पुरा करनेवाली सभी वस्तुओंको जानबूझकर त्यागा है पू ध्यान लगाकर उनको लेनेसे ही इन्कार कर दिय है उनका वर्णन सुनकर ही दूरसेही उन्हें तिला-ञ्जलि दे बैठा है। इस धन, धारा, सुतरूपी दलदल में जिसमें बहुत मनुष्य डूब मरते हैं तू इसे प्राप्त ही नहीं कर पाया इसके सङ्गसे पहिले ही इससे कोसों दूर भाग निकला है। इस पाप पङ्कसे तू सर्वथा बच निकला है। क्योंकि इतनी कामनायें भी तुम्हें लालचमें फंसा नहीं सकी, बहुत लालच मैंने तुम्हें दिखाये पर तू सर्वथा विषयलोलूप नहीं हुआ अतः मैं नचिकेता विद्याका इच्छुक मानता हूं मुझे निश्चय हो गया कि नचिकेताको सबसे अधिक आकांक्षा सत्य ज्ञानकी ही है क्यूंकि विद्या अविद्या तो सर्वथा एक दूसरेका उलट ही सभी जानते और सर्वथा विपरीत दिशाओंमें दोनों दूर ले जा फैंकती हैं। अविद्या यही जानी गयी जो मनुष्योंमें विषयवासना, भोग्य एवं आकांक्षा उत्पन्न कराती है और विद्या इससे निवृत्तिकी ओर ले जाती है। जब तुम्हें इतने उत्तम भोग मैंने देने चाहे और तूने सर्वथा कर दी तो मैं क्यों न निश्चय करूं कि व तुम विद्या मुमुक्षु हो।

जो अविद्यामें वर्त रहे होते हैं वह तो अपने आपको ही बुद्धिमान, धृतिशाली, विद्वान् मान बैठते हैं और किसीसे कुछ भी नयी बात सीखना अपना अपमान समझते हैं, अतः जैसे अन्धोंके पीछे अन्धे चक्कर काटते, इधर उधर भटकते फिरते हैं और सीधा

रास्ता इन्हें नहीं मिलता है उसी प्रकार यह अविद्वान् तथा इनकी शिष्यमण्डली और ऐसे ही इनके अविद्वान् गुरु सभी जन्म मरणके ही चक्कर में घूमते, भटकते, फिरते हैं। उन्नतिका, मुक्तिका मार्ग इन्हें मिलता ही नहीं क्योंकि इन वालवुद्धियों को उच्च,परलोक,मुक्ति आदि अच्छी नहीं लगती उसका दिग्दर्शन ही कभी उनकी बुद्धिमें नहीं भासता कारण कि वह धनके नशेमें ही चूर हो रहे होते हैं और सदा विषय, विलास, आलस्य प्रमादमें ही समय विताते हैं। विचार ही उनका तो यह होता है कि दुनियां ही एक यही है और कौनसी होनी थी क्या कभी किसीने परलोक देखा है जो उसके पीछे मारा मारा फिरा जाय इत्यादि विचारमें पडे वह परलोकको न मानते हुए इसी संसारकी सामग्रिसे आनन्द लेते रहते हैं। ऐसे विचार रखनेवाले वार वार मेरे ही वश पडते हैं वार वार मरते जन्मते ही रहते हैं। इनमेंसे बहुतोंको तो सत्य विद्या सुननेको भी नसीव नहीं होती और अनेक भाग्यहीन उस विषयकी वार्ता सुनते हुए भी उसका तत्त्व समझ नहीं पाते। यह वात सर्वथा सत्य है कि इस विषयका जाननेवाला संसारसे निराला ही होता है अतः जनता उसके ढंग,रहनसहनसे चकित हो जाती है कि आश्चर्य ही है कि यह इस सभ्यता की शताब्दिमें कैसे यह आचार, व्यवहार रखता है। इसी प्रकार ऐसे ज्ञाता का उपदेश भी जनता को विचित्र ही प्रतीत होता है वह उपदेश से भी चकित ही होती है कि इस युगमें यह कैसी शताब्दि पुरानी वात हमें सुना रहा है जिसकी आज सुननेकी भी किसीको सर्वथा आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। कोई सुयोग्य गुरु ही अध्यात्म रहस्य खोल सकता है और कोई तीक्ष्ण वुद्धि शिष्य ही उस भेदको समझ सकता है इस आत्मतत्त्व को गुरुके अनुभव करानेपर अनुभव कर सकता, प्राप्त कर सकता है। सर्व सद्विद्याको साक्षात् करनेवाले किसी अनुभवी योगीसे शिक्षा पाकर ही सुयोग्य शिष्य इसको ऐसा स्पष्ट जान जाता है और फिर इसका उत्तम उपदेश करने लग जाता है कि सभी विस्मित रह जाते हैं कि इसको आत्मदर्शन किसकी कृपा से हो गया। वास्तवमें आत्मज्ञाता गुरुशिष्य संसारको आश्चर्यान्वित कर देते हैं और वास्तवमें वही योग्य, पण्डित, कुशल व्यक्ति होते हैं। यह विषय ऐसा सूक्ष्म है कि उक्त कुशल गुरुसे भिन्नके उपदेश द्वारा इसमें किसी की पहुंच ही नहीं हो पाती, यहां तर्क तो जाती ही नहीं उससे तो दूर परे सूक्ष्म हैं और यदी उपरोक्त कुशल गुरु न मिले तो अन्य अनुभव रहित पण्डित चाहे लाख उपदेश करें और चाहे स्वयं भी कितना सोच सोच थके पर यह भेद नहीं जाना जाता; विशेष, उत्तम, सुखदायी, ज्ञान इस तत्त्वका भी होता है जब कुशल योगी कोई हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष कराये। अन्यथा वहुत प्रकारसे नयी नयी रीतिसे भी विचार करने से यह तत्त्व उपलब्ध नहीं होता।

हे परम प्रिय नचिकेता ! जब कोई भक्तवत्सल भगवान् उत्तम ज्ञान शिष्य को करवाने के लिये ही इस तत्त्वका रहस्य अपने प्रिय शिष्यके सम्मुख खोले तो शिष्यको चाहिये कि वह विचारका तर्कसे खण्डन करनेका यत्न न करे, वरञ्च जिस श्रद्धा धारणा को तू प्राप्त कर पाया है उसीसे उसके विचार ग्रहण करे। प्यारे ! सच्चा धैर्य तो वास्तवमें तू प्राप्त कर पाया है तू ऐसा उत्तम सुयोग्य शिष्य है कि परमात्मा हम जैसे सभी गुरुओंको तुम जैसा ही प्रश्न कर्ता सदा देता रहा, सदैव हमें तुझ जैसे ही पूछनेवाले मिलते रहें। मैं जानता हूं कि धनका बडेसे बडा कोष भी स्थायी नहीं समाप्त होनेवाला है और वह मृत्यु के पीछे रहनेवाला अमरतत्त्व नित्य एक रस है अतः धन, स्त्री, पुत्र, आदि अनित्य नश्वर पदार्थों द्वारा वह प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि दोनों एक दूसरेके उलट हैं। यह विचार करके मैंने नाचिकेत यज्ञ किया आदि अग्निको आराधा और अनित्य

पदार्थोंसे में, ऊपर उठकर नित्य तत्त्वको प्राप्त हो गया हूं और तूने भी हे नचिकेता! बडे धैर्यपूर्वक-धीर, योगी, त्यागी, की न्यायी सम्पूर्ण प्रलोभनोंको दूरसे ही सर्वथा त्याग दिया है। विषयभोगके पदार्थों की पूर्णता को, संसारमें अपना वंश चला जानेको अनन्त यज्ञ याग करनेको अश्वमेध द्वारा चक्रवर्ति राज आदि करनेको स्वराज्यरूपी परम निर्भयता को, बडी स्तुतिको बहुतसे गाये जाने योग्य मान प्रतिष्ठाको, सामने प्राप्त होते हुए कहने-मात्रसे सभी कुछ मिलते हुए, देखकर भी नचिकेता धीरने उनको दूरसे ही नमस्कार कर दिया है और सर्वथा उनके लोभमें नहीं फंसा।

अतः नचिकेता वास्तवमें उस पदका अधिकारी है जिसे मानकर धीर पुरुष शोक और अति प्रसन्नता दोनों को त्याग देता है, जो देवता अपने आप को वशमें करने रूप आध्यात्मयोग द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, जो सनातन प्राचीन तत्त्व हृदय कंदिरामें स्थित बुद्धिके प्रेरक रूपमें वर्तमान, बाहर के अन्दर के सभी अङ्ग प्रत्यङ्ग अणु परमाणुमें व्याप्त होता हुआ भी ऐसा सूक्ष्म प्रच्छन्न गुप्त छीपा पडा है कि देखना बहुत ही कठीन है। उसी देव के अस्तित्व को मानकर कोई व्यक्ति शोक नहीं करता और नहीं प्रसन्नता में अपने आपे से बाहर होता है। इस विषयका श्रवण कर अपने अन्दर आत्माका शब्द सुनकर, उसे सम्पूर्णता सब प्रकार से ग्रहण कर अपने आचरणमें उसे घटा कर मरण धर्मा उन्नति करता करता बहुत उच्च हो जाता है और इस धर्मसे प्राप्य, धर्म धारियों के प्रवर्तक, सूक्ष्म देवाधिदेव को पाकर वह भक्त आनन्द के स्रोत् जिस से आनन्द लिया जा सकता है उस आनन्दप्रद, आनन्दमय को पाकर आनन्द ही मनता है। हे वत्स नचिकेता! मैं आप के हृदय मंदिर को इस देव के प्रवेश के लिये किवाड खोले हुए ही समझता हूं, मैं मानता हूं कि तुम्हारे हृदय में संशय मल, विक्षेप, आवरण सर्वथा नहीं है परमात्मा की ज्योति इस में जगाई जा सकती है।

अतः अब तू यह बता कि इस धर्म, अधर्म, कृत, अकृत, भूत, भविष्य, वर्तमान से सर्वथा निराला क्या तुझे कुछ भी भासता है यदि कुछ दीखता अनुभव होता है तो कह। (इस समय गुरु शिष्य की परस्पर आकर्षण शक्ति से नचिकेताका आत्मा यमराज स्वयं जगाते हैं) बस जो यह त्रिकालातीत, कार्य कारण में एक रस, क्रियानिष्क्रियरूपमें एकाकार, पुण्य पाप, धर्म, धर्मी आदि में समान गम्भीर एक तार एक रस भर रहा तुझे प्रतीत होता है वही वर्णन करने का यत्न करो (यहां यमराज नचिकेता को आत्मदर्शन करा उस को उस दशा का वर्णन करना सिखलाते हैं)

मैं तुझे उसका संक्षिप्त वर्णन करता हूं वह पद "ओ३म्" है यह स्पष्ट अनुभव हो रहा है इसी की अभिलाषा रखते हुए कोई तो आयु भर ब्रह्मचारि ही रह जाते हैं कोई अनेक प्रकार के सभी तप तपते हैं और कोई सम्पूर्ण वेद वेदाङ्गों के स्वाध्याय में ही आयु बिता जाते हैं वास्तवमें यह सच भी है कि सभी वेदों के वचन प्रवचन का उद्देश तो उस ओ३म् से भेट करा देना ही है सम्पूर्ण कठिन तपों का आशय मुक्त कण्ठसे इसका ही वर्णन प्रति क्षण करवाना ही है प्रणव जाप ही श्वास प्रश्वास के साथ करना सब तपों से परम तप है ब्रह्मचर्य साधनका उद्देश भी इसी की प्राप्ति है भगवद्प्रित् हो जाना ही सबसे बडा ब्रह्मचर्य है पर वेद, तप, सदाचार का आशय ओ३म् अनुभव कराना मात्र है। वही पद अविनाशी सर्वाधार है वही परम व्यापक सत्ता है उसी रूपी संसारको भोगनेवाले तत्त्व को जान कर मनुष्य जो चाहता है सो पाता है। ओ३म् अक्षर ब्रह्म परम पद पहिचाना तो सभी कुछ पा लिया। फिर यह हो ही नहीं सकता कि कोई इच्छा उठे और पूरी न हो। अतः यह ओ३म् पद ही उत्तम श्रेष्ठ सबसे बलवान सहारा आश्रय है और इसी आश्रय का यथार्थ ज्ञान प्राप्तकर भक्त महिमा पाता है, जनतामें मान पाता है भगवान् के दर्शन करना उनका प्रेमपात्र बन जाता है, सभी कहते हैं कि यह ब्रह्मलोकी है। परमात्म देव स्वयं उसका

सदा ध्यान रखते हैं कि यह मेरा भक्त कष्ट न पावे। सर्वश्रेष्ठ सर्वेश भगवान् न कभी जन्म लेते हैं न मृत्यु पाते हैं न तो किसी अन्य कारणसे बने कार्यरूप यह हैं और नहीं कभी कारणरूप यह किसी अन्य कार्यके रूपमें ही परिणत होते हैं, कभी भगवान् कोई नहीं बनते और नहीं कभी कहींसे होते हैं, सदैव स्थान तथा व्यक्तित्व उपाधियोंसे रहित ही रहते हैं देह अजन्मा, अमर, सनातन, प्राचीन एक रस सदैव हैं। शरीर चाहे कितने भी बनते और मरते जायं पर यह वास्तव अमृत तत्त्व कभी मारा नहीं जाता, न नया घडा ही जाता है। इसी कारण प्रत्येक शरीरसे संबंध अमृततत्त्व होनेके कारण यह परिणाम निकलता है, कि एक शरीरधारी यदि यह समझता है कि मैं मार रहा हूं और दूसरा शरीरधारी यह मान रहा है कि मैं मारा जा रहा हूं तो न तो मारनेवाला ही जानता है और नहीं मारे जानेवाला यथार्थ जानता है दोनों ही अज्ञानी हैं क्योंकि वास्तवमें उनके शरीरमात्र इस व्यवहारमें उलझे हुए हैं और उनके अमर भाग तो न मारते हैं न मरते हैं अतः जब एक भाग मारता मरता नहीं तो संपूर्णका, अपनेको मारने, मरनेवाला समझना कोरा अज्ञान ही है।

वह अमर भाग तो परमाणुसे भी सूक्ष्म और आकाशसे भी विस्तृत है इस प्राणिकी हृदय गुफा में यह इसका आत्मा अमर भाग छुपा रखखा है उसी जगत्धारककी कृपासे ही उस आत्माकी महिमाको वही योगद्वारा निष्क्रिय हुए मन प्राणवाला देख पाता है जो शोक करना कभी का त्याग चुका हो। कर्म तथा शोकका कारण रजोगुण भी जिसने पूर्णतया अपने वशमें कर लिया हो, तमोगुणका तो कहना ही क्या; ऋतु बुद्धि जिसकी स्थिर हो चुकी हो ऋतः यज्ञयाग से जो ऊपर उठ चुका हो, उनसे प्राप्तव्य फल जो प्राप्तकर चुका होनेसे जिसे अब उनकी इच्छा न रही हो, ऐसा व्यक्ति स्वभावतः शोक-रहित ही होता है वही महिमायुत आत्माका दर्शन भगवान्की हि कृपासे पाता है। उस आत्माकी ऐसी अद्भुत शक्ति है कि बैठा बैठा ही दूर दूर तक चला जाता है। सोया सोया सब स्थानपर पहुंच जाता है। काम क्रोध आदिका नशा उसको कभी उन्मत्त नहीं कर पाता ऐसी विचित्र देवता को मेरे बिना और कौन जान सकता है? वास्तवमें मृत्यु यम ही जो संपूर्ण शरीरधारियोंको शरीरसे पृथक् करवाता रहता है। जो अमर आत्माका अनुभव उसको है वैसे शरीरमें शरीर संबंधी विचारोंमें, उलझे शरीरधारियोंको कब होना संभव है। हम समझते हैं कि यह यहां पडा सो रहा है पर यम जानता है कि मैं इस बुतको यहां सोया छोड इसके प्राणिको दूर लेजाकर फिर लौटा लाया हूं हम समझते हैं कि यह बैठा संध्याकर रहा हैं। यम जानता है कि वह उसके मनोमयको दूर दूर तक घुमा फिराकर फिर वहीं छोड गया है वास्तवमें स्थूल देह विचारक उस देवके विषयमें क्या अनुमान लगा सकेंगे? वह तो शरीरधारियोंका अदृश्य अशरीर भाग है चलते फिरते शरीरोंका वह निश्चल अडोल भाग है वह एक ही व्यापक महान सूक्ष्म सबमें समान सत्ता है। उसको अपना आप माना धैर्यपूर्वक इस भावनाका आश्रय पकडा फिर शोक कैसा फिर तो आनंद ही आनंद है।

ऐसा शुभात्मतत्त्व बहुत वेद सुननेसे प्राप्त नहीं होता, न वेदकी व्याख्या सुनानेसे ही मिलता है, न बहुत विचार मस्तिष्क में धारण करनेसेही इसे उपलब्ध किया जा सकता है। यह तो उसे ही मिलता है जिसे यह स्वयं ही इस योग्य समझ कर अपने निवास योग्य पहिचान, रहनेके लिये स्थान रूपमें वर ले, उसके शरीरको यह अपने शरीरके रूपमें विशेषरूपसे स्वीकार कर लेता है और उसीके शरीरद्वारा अपना कार्य करवाने लग जाता है। अपना सारा भेद उस प्राणीपर स्वयं खोल देता है। दुराचार जिसने सर्वथा त्याग नहीं डाला अपना आप जिसने वश नहीं किया मन

निश्चल नहीं किया, अपने आपको शान्त नहीं किया, वह उत्तमसे उत्तम ज्ञान सुनकर भी इस आत्मतत्त्वको साक्षात् नहीं कर पाता, प्रयोगमें तो इसको क्या ला सकता था। वेद तथा सर्वशक्ति, महाज्ञानी ब्राह्मण और चक्रवर्ती राजा ये भी दोनों जिसका वैसा ही भोजन हैं, जैसा हमारे लिये दाल भात, मृत्युभी जिसका भोज्य पदार्थ ही है जैसा हमारा भात पर परोसा घी, उस अला भगवान्को कौन जान सकता है कि यह यहां है और यहां नहीं और कि यह ऐसा है और ऐसा नहीं? तात्पर्य यह कि महाज्ञानी और महाशक्तिशाली भी कीट पतंग समान जिसके सम्मुख क्षणभरमें नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं, मौतभी जिससे थर थर कांपती है, उसे वही जान सकता है, कि वह ऐसा है और यहां है जो शान्त सदाचारी पवित्र मनवाला उत्तम ज्ञानी है। जिसकी स्मृति, धृति, सूक्ष्म विचार, वेदमें श्रद्धा, वेदव्याख्यानमें रुचि आदिसे प्रसन्न होकर भगवान्ने उसे स्वयंही वर लिया हो और उसके शरीरद्वारा ही अपना कार्य करना आरम्भ कर दिया हो, उसके ही आगे भगवान् अपने सब भेद प्रगट कर देता है और उसे प्रियरूपमें सेवता है।

तीसरी वल्ली।

अपने ही शुभ कर्मके फलस्वरूप प्राप्त हुई इस दर्शनीय देहके उत्कृष्ट भाग श्रेष्ठ-हृदय-कंदिरामें दाखिल हुवा जीव और उसमें भी दाखिल हुवा ब्रह्म छाया और प्रकाश की न्यायीं परस्परविभिन्न अपने अपने निज यथार्थ स्वरूपके अनुकूल ज्ञान तथा अमृतका पान करते हुए विराज रहे हैं। परमात्माको जाननेवाले ऐसा बतलाते हैं जिन्होंने सूर्यसे अग्निपर्यंत पंचाग्नि विद्या जान ली है, वह भी यही कहते हैं और जिन्होंने तीन गुण आदि का तत्त्व पहिचान नाचिकेत यज्ञ किया है वह भी यही कहते हैं।

नचिकेता जिस परब्रह्मको जानना चाहता है, परमात्मा करे कि हम भी उसे जान पहिचान कर नचिकेताको जना पहिचनवा सकें। वह अभय पद है, दुःखशोक तरना चाहते हुओंके लिये परला किनारा है, यज्ञ करनेवालोंके भवसागर पार करनेका पुल है। वही अविनाशी, व्यापक, सर्वाधार, सर्वकर्ता, निर्भय, निरंजन ओंकार है।

हे नचिकेता! सबसे आसान मार्ग उसकी प्राप्तिका अब तू मुझसे सुन। वह यह है—

इस मानव-देहको एक घोडा गाडी समझो। इंद्रियां जो ज्ञान और कर्मकी १० हैं, वह तो दश घोडे इसको जुते हुए हैं मनरूपी लगाम उनको खींचनेके लिये है, बुद्धिरूपी सारथिने वह लगाम थामी हुई है, गाडीमें आत्मारूपी सवार गाडीका मालिक रथी बैठा हुवा है, उसकी आज्ञासे ही बुद्धि सारथि गाडीको विषयोंके मार्गसे चलाता है। अतः इसी मार्गपर पदार्पण करते हुए इंद्रियरूपी घोडे बराबर चले जा रहे हैं। मनको भी जो जानते हैं उन विचारकोंने कहा है कि सुख-दुःखभोग, विषयभोगरूप जो गाडीद्वारा सफ़र करना है, उसका पथिक, विषयभोगकर्ता, आत्मा बुद्धि तथा इंद्रिय समेत ही है, अकेला नहीं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस शरीरधारी की बुद्धि एक ओर जाती है, मन दूसरी ओर और सदा यही गडबड मन-बुद्धिमें पडी रहती है उसकी इंद्रियां सर्वथा उसके वश नहीं रहेंगी। जैसे सरकश घोडे साईसके वशमें नहीं रहते और संभव है रथ कहीं खाई खड्डेमें जा पडे और रथी, सारथी, घोडे, रथ सभी मर खप टूट फूट जाएं, नष्ट भ्रष्ट हो जाएं।

विरुद्ध इसके मन बुद्धि सदा उस मालिक आत्मा की आज्ञा में ही रहते हैं। उसकी इंद्रियां तो वशमें रहनी ही ठहरीं, जैसे उत्तम घोडे बिगडते नहीं सारथिके वशमें रहते हैं। ऐसा रथी जिधर चाहे रथको चलाये, स्वेच्छापूर्वक उद्यानमें भ्रमण करे सर्वथा रथसे वह सुख ही पाएगा।

इसी लिये तो यह परिणाम दोनों दशाओंमें सर्वथा भिन्न भिन्न इस प्रकार निकलता है कि जो तो बुद्धि विज्ञान अनुकूल मनको रख कर, सदा पवित्र रहता हुआ, मन-बुद्धिको अपनी

आज्ञा अनुकूल चलाता है, वह तो उस ब्रह्मलोक, परमपदको पा जाता है, जिससे फिर उसे जन्म मरणके चक्करमें नहीं जाना पडता। कारण कि इंद्रियां उसने वशमें रक्खीं तो सर्वथा उसको वे कुमार्गमें न ले जा सकीं और सीधे रास्तेसे चलकर वह पहुंचने योग्य स्थानपर शीघ्र ही जा पहुंचा। विपरीत इसके जो बुद्धिहीन, मनके वश स्वयं हुआ हुआ, इंद्रियोंके पीछे मारा मारा फिरता गंदे आहार व्यवहार आचारोंमें आयु व्यर्थ गंवा जाता है, वह तो पुनः पुनः संसारमें घूमता है, जन्म-मरण-में ही घूमता रहता है। उसने परम पद, उच्च गति, ब्रह्मलोक क्या पा सकना था? वह तो यहीं धक्के खाता फिरता रहता हैं।

अर्थात् वास्तवमें जिसने बुद्धिको शरीर रथ हाक-नेवाला सारथि बना रक्खा है और मन लगाम-से इंद्रिय घोडों को जिधर चाहता है, उधर ही चलानेके लिये सारथिको आज्ञा दे, उससे उन्हें चलवाता है ऐसा शरीर गाडीका नेता, मालक आत्मा संसार-मार्गके पार जा पहुंचता है। उस स्थानपर जो विष्णु का परमपद कहलाता है अदृश्य, परोक्ष, सर्वव्यापक, परम प्रापणीय भग-वान् ओंकारके दर्शन पा लेता है। कारण यह कि यद्यपि विषय इंद्रियोंसे बलवान् होनेके कारण उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर सकते हैं तो भी मन विषयोंसे भी बलवान् होनेसे इंद्रियोंको विषयों से हटाकर अपने वशमें कर सकता है। अतः जिस आत्माने मन लगामको संभाला है इंद्रियां उसको विवश नहीं कर सकतीं। वरंच उसके आधीन ही रहती हैं। बुद्धि मनसे भी बलवती है, अतः मन लगाम को बुद्धि सारथि पूरी तान सकती है और बुद्धिसे आत्मा तो बहुत ही अधिक शक्ति-शाली है। इसीलिये सारथिको रथीकी आज्ञाके विरुद्ध चल सकना सर्वथा असंभव है। इस प्रकार देही बुद्धिद्वारा मन वश कर इंद्रियोंको अपने इष्ट विषयोंमें ही चलाता हुआ मार्ग पार पहुंच सकता है। परंतु अव्यक्त जो प्रकृति है, वह जीवात्माके लिये दुष्पार आकर्षण है, बहुत शक्तिशाली माया है, जिससे प्रबल तो पुरुष परमात्मा ही है। अतः यदि भगवान् परम पुरुष स्वयं ही किसी जीवात्माको वरे तभी वह प्रकृति अव्यक्तके बंधनसे छुटकारा पा सकती है। बिना ऐसा हुए जीवात्मा अपनेसे प्रबल अव्यक्त में ही उलझा रहता है। परम पुरुष भगवान् तो सीमा है, परम गति है, पराकाष्ठा है। उससे परे और क्या होना था? अतः जो उसका आश्रित हो गया है, उसके वशमें सभी हो गया, प्रकृति उसको फिर बांध नहीं सकती। पुरुषपरमात्मासे बलवान् कुछ नहीं, उससे सूक्ष्म, उससे महान् कुछ नहीं, वही सीमा है, हद है, यह आत्मा पुरुष परब्रह्म है, सभी भूतमात्रमें, पर छुपा हुवा होनेसे प्रकट नहीं होता। दीखता है पर बारीक निगाह वालोंको, वह भी जब बारीक निगाहसे देखते हैं उसी समय; अन्य समय उनकी निगाह से भी ओझल ही रहता है। मोटी बुद्धि सदा संसार के धंदोंमें उलझी से यह कब और कैसे दिखे? अतः स्याने व्यक्तिको चाहिये कि पहिले तो सभी वाग् आदि ज्ञान-कर्म इंद्रियोंको रोके, फिर मनको भी रोके अर्थात् पहिले संपूर्ण इंद्रियचेष्टाएं रोके फिर इंद्रियद्वारा विषय प्रत्यक्ष करनेसे भी हटे, फिर विषय विचार भी बंद करे। अतः बुद्धिमें हि सब ज्ञान-साधनोंको लय करवावे फिर बुद्धिको आत्मामें जोड देवे, फिर इस महती आत्मशक्तिको शांत तत्त्व पर ब्रह्ममें स्थिर करे, आनंदमें मग्न हो जावे, भगवद्रसाऽऽस्वादन करे। ऐसी अवस्था यदि भाग्यसे कभी प्राप्त हो जावे तो तुरंत पुरुषको हुशियार हो जाना चाहिये। प्रापणीय वरणीय भगवान्का तुरंत अनुभव ले लेना चाहिये। जैसे कोई पूरा, जीता, जागता, तैयार बर तैयार खड घोड सवार अपने महाराजाकी प्रतीक्षामें होता है और जब महाराजा पाससे गुजरता है, तुरंत उसे प्रणाम करता है, ऐसी ही बडी फुरती चालाकी हुशियारी से उस शुभ अवसरसे उपयोग लेना चाहिये। नहीं तो यदि उस समय ऊंघने सोने लग गये, आलस्य

प्रमादमें ही अवसर हाथसे खो दिया तो स्मरण रखो, फिर वह अवसर नहीं प्राप्त कर पाओगे। जैसे तीखे छुरेकी धारपर चलना अतीव दुष्कर है, वैसे ही प्रकृतिके चङ्गुलसे छूटनेका मार्ग अतीव दुष्प्राप्य है। विद्वान्, ज्ञानी, योगी, यही स्वानुभव बतलाते हैं कि हम अमुक समय चूक गये आजतक पछता रहे हैं फिर आजतक वह अवसर दोबारा हाथ नहीं आया, नहीं आया।

हे वत्स! प्रिय नचिकेता! शब्द नहीं, स्पर्श नहीं, रूप नहीं, रस नहीं, गंध नहीं अर्थात् इंद्रियगोचर कोई विषय वह ब्रह्म नहीं। न इनमेंसे किसी गुणसे भी वह गुणी है। वह नाशरहित सदा रहनेवाला है, आदि अंत उसका कोई नहीं, महान् आकाश आत्मा सभीसे परे है, अचल अडोल एकरस है, उसको पृथक् निश्चय कर देख कर मृत्युके मुखसे सदाके लिये छूट जाता है। यही वह मृत्युके पीछे बचनेवाला तत्त्व है, जो तूने तीसरे वरके रूपमें मांगा है।

यमराजकी कही नचिकेता की इस पुरानी कहानीको विचारशील बुद्धिमान् योगी सुनकर और भक्तोंमें वर्णन कर परमात्माका दर्शन पा बहुत बडा हो जाता है और सभी उसको भगवान् कहने लग जाता है।

इस अत्यंत गुप्त रहस्यको जो परमात्मा के भक्तों की सभामें सुनाएगा, सर्वथा इसमें लवलीन होकर पूरा, श्रद्धासे, तब उस पूरे प्रयत्न ध्यानसे वर्णन करते हुए को श्रद्धालु भक्त सुनें, तब दोनों सुनने-सुनानेवालोंमें अनंत शक्ति भगवद्भक्ति जागरित हो जावेगी। अनंत सामर्थ्यवाली उस समय यह आख्यायिका हो जावेगी ॥

चौथी वल्ली।

स्वतः सिद्ध भगवान्ने इंद्रियोंको बाहरकी ओर जानेवाली बनाया है। इसीलिये हर कोई बाहर को देखता है, अपने अंदर नहीं। परंतु कोई एक बुद्धि, धृति, आदि शुभ गुणोंमें आनंद मनानेवाला लगातार आत्माकोही देखता है आंख मींचकर, मुक्ति चाहता हुआ। ब्रह्मा प्रजापतिने जो संपूर्ण प्राणियोंकी आंख आदि इंद्रियां बाहरके विषयों से आकृष्ट होनेवाली बनाई हैं और यही हृद् कोठरमें बैठा उन्हें चला रहा है तो फिर तो उन्होंने बाहरको ही जाना ठहरा। अतः प्रत्येक प्राणी बाह्य विषय भोगता है, पर कोई जो निराकारमें बुद्धिको आनंद दिलाता है, वही अंदर देखने लग जाता है। क्योंकि उस मुक्तिके इच्छुकका ध्यान अंदर लग जाता है। अतः उसकी इंद्रियां बाह्य विषयोंमें वर्तना छोड देती हैं। साधारण प्रकृति अनुसारी बालबुद्धि लोग, बाहरकी विषयकामनाओंके पीछे ही भटकते हैं वे मौतके फैलाये विस्तृत जाल में फंसते हैं। इसके विरुद्ध धैर्यवाले विद्वान् अमर धामकी झांकी पाये हुये हुए नित्य भगवानकी झलक देखे हुए इस संसारके क्षणभङ्गुर भोगोंकी खातर, दर दर मांगते नहीं फिरते उन शांत गंभीरोंके पास संसारके भोग्य पदार्थ भागे भागे आते हैं और वह उन्हें ठकुरा देते हैं।

जिस इस एकके द्वारा ही रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श, स्त्रीभोग इन सभी संबंधि सुःखदुःखोंको अनुभव करता है, तो वह एक क्या तत्त्व यहां रस आदि भिन्न पृथक् प्रतीत होता है। सम्यक् यही शरीरके मरनेपर भी अमर सत्ताके रूपमें सर्वथा मृत्युसे अप्रभावित रह जाता है। यही तेरे प्रश्नका उत्तर है, यही वह आत्मा अमृत है।

स्वप्नका अंत जागरित तथा जागरितका अंत स्वप्न अथवा सुषुप्ति इन संपूर्ण अवस्थाओंको जिस एकके ही द्वारा वह अवस्था निकल चुकने के पीछे स्मृति मात्रसे साक्षात् प्रत्यक्षके समान देख लेता है, वही सभी अवस्थाओंका साक्षी उन सभी के समय व्यापक अद्भुत शक्ति आत्मतत्त्व, है। एकबार उसे विचार लिया, धैर्यपूर्वक उसका अनुभव अपनेमें स्थिर कर लिया, फिर उसे शोक कैसा? फिर तो वह आनंदित हो जाता है। उस अमर तत्त्वके भानरूपी उत्तम मधु सुस्वादु मिठाई को चखनेवाले जीवात्माको जो हो चुके, हो रहे, आगे होनेवाले सभीको इस दशामें अपनी इच्छा अनुकूल प्रवर्तित कर सकनेके कारण उस-

अंदने इस विषयोंमें ही चलाता हुआ मार्ग पार ... सकता है। परंतु अव्यक्त जो प्रकृति ... से इस शुभ अवसरसे उपयोग लेना चाहिये। नहीं तो यदि उस समय ऊंघने सोने लग गये, आलस्य

का ईश्वर है। उसको जो अनुभव कर गया कि मैं जीवात्मा ऐसा हूं फिर उसने आत्माकी निंदा क्या करनी थी ? यही उत्तम मधुभक्षक जीव वह मौतके पीछे भी बचा रहनेवाला तत्त्व है, जिसके विषयमें तूने तीसरा वर मांगा है।

भगवान्‌ने प्रकृतिसे सृष्टि उत्पन्न करनेके लिये जब ज्ञानमय तप किया, उस तपसे पहिले भी जो प्रकृतिमें छिपे पडी थी और तपके परिणामस्वरूप जो आपः की उत्पत्ति हुई। उस आपःसे पहिले भी विद्यमान थी जो प्रकृतिसे उत्पन्न भूतमात्रके द्वारा जो विशेष प्रकारसे संपूर्ण पदार्थ मात्रको देखती है, वही प्राकृतिक इंद्रियाधिष्ठानोंके आश्रय ज्ञान प्राप्त करनेवाली प्रकृति दशामें भी उसमें छिपी रहनेवाली तप तथा जलसे पूर्वभी विद्यमान, अमर, आत्मसत्ता है। शरीरके मरने पर यही वह अमर आत्मा शेष बच रहती है।

जो दिव्य अखण्ड शक्ति जगज्जीवन भगवान्‌से उत्पन्न होकर हृदय-गुफामें छिपी पडी रही है और भूतमात्रसे सर्वथा भिन्न पृथक् प्रसिद्ध है, यही वह अमर आत्मा है।

समिधाओंमें अग्नि उनके प्रकट प्रत्येक अणुमें विद्यमान छिपी पडी है, पर दिखाई नहीं देती। गर्भवती स्त्रियां अपने गर्भको सर्वथा छुपाए रखती हैं और साथ ही पूरी रक्षा उसका भरण पोषण उत्तम रीतिसे करती हैं, पर गर्भगत बालक भी वहां छुपा-हो पडा रहता है बाहरसे दिखाई नहीं पडता। इसी प्रकार जागते हवन करते मनुष्योंके द्वारा प्रतिदिन स्तुति किये जाने योग्य एक सर्वशक्ति-ज्ञान-प्रकाश-भण्डार एक तीसरी अग्नि भी है जो भूत मात्रमें विद्यमान उनसे सर्वथा पृथक् है, पर बाहरसे नहीं दीखती यही वह अमर आत्मसत्ता है।

सभी देवता इसीके सहारे हैं। सूर्य भी इसीसे उदय होकर इसीमें अस्त होता है। किसी भी सूर्य आदि देवताकी मजाल नहीं जो इसे उलांघ सके, इसके शासनके विरुद्ध चल सके। यही सबसे बलवान् सबका नियंता वह अमर तत्त्व है।

जो अमर तत्त्व इस देहको थाम रहा है वही भूमिको, वही उस सूर्य, वही संपूर्ण संसार-चक्रको और जो संसारको चला रहा है वही, सूक्ष्मसे सूक्ष्म परमाणु तथा जीवित अतीव सूक्ष्म बैक्टीरिया आदिको भी गति दे रहा है। उस अदृश्य लोक इस दृश्यमान संसार दोनोंको एक ही अमर सत्ता प्रभावित कर रही है, जो उसको खण्डित, यहां और वहां और मानता है वह तो मरता ही मरता रहता है, बारबार जन्ममरणचक्करमें ही घूमता रहता है। मनके द्वारा ही इस आत्माका अनुभव प्राप्त करना चाहिये। इसकी अखण्डैक-रसता भांपनी चाहिये। क्योंकि वास्तवमें इसमें कुछभी ऐसा नहीं जिससे इसमें नानापनकी सिद्धि की जा सके। अतः जो इसे नानावत् देखता है वह मरता ही मरता जाता है। जन्ममरणके बंधन से उस अनात्मदर्शीने क्या छूट सकना था ?

मानव-देहमें इसके मध्य हृदयमें अंगूठे जितना प्राणोंसे घिरा मनोमय कोश है। वह अंगूठे जितना अंदरका पुरुष धूएंसे सर्वथा रहित आग प्रकाश की ज्वालाकी न्यायीं प्रकाशित है। यह मनोमय इस स्थूल देहसे कहीं अधिक शक्तिशाली है। क्योंकि जो कर्मज्ञान पुरुष अनुभव कर चुका वह सब इसमें विद्यमान है। अतः वह जब चाहे उनको व्यक्त कर दे। अतः वह भूतको वर्तमान रूपमें दिखा सकने-वाला भूतका स्वामी है। भविष्यत्‌में भी वही ज्ञान कर्म घटनाएं घटेंगी, जिनकी शक्ति इस समय इसमें विद्यमान है। अतःवह जब चाहे उसे भी व्यक्त कर दे। अतः वह भविष्यत्‌को भी वर्तमान रूपमें दिखा सकनेवाला भविष्यत् का भी स्वामी है। इस प्रकार अंगुष्ठ पुरुष भूत भव्यका ईश्वर है। और उसका प्रकाश आजकल प्रतिदिन हो रहा है, ऐसे प्रभुको जानकर कौन उसकी निंदा करनेका साहस कर सकता है? यही वह मौत पीछे बचनेवाला आत्मा है।

जिस प्रकार ऊंची पहाडकी चोटियोंपर, जहां पहुंचना बहुत कठिन है, बरसा हुआ जल नीचे पहाडियोंमें दौडता हुआ विविध मार्ग पकड लेता है, इसी प्रकार संसारमें नाना भावोंके अनुभव कर्ताका मन उन भावोंके धर्मोंके पीछे दौडता भिन्न भिन्न विचार-मार्गोंमें ही जाता रहता है। सर्वथा अंतर्दृष्टि एकाग्रनिरुद्ध नहीं हो पाता। इसके

मुक्ति चाहता हुआ। ब्रह्मा प्रजापतिने जो संपूर्ण इच्छा अनुकूल प्रवर्तित कर सकनेके ...

विरुद्ध शुद्ध बरतनमें ग्रहण किया वर्षाका शुद्ध जल वर्तनकी आकृति धारण कर लेता है। इसी प्रकार विज्ञानवान् मनस्वि योगी भक्तका आत्मा परमात्माके ध्यानमें लग परमात्मा रूप ही हो जाता है। अतः उस समय वह सर्व-लोक-गमन समर्थ, इच्छाविहारी गौतम सत्यकाम सत्यसंकल्प ही हो जाता है।

पांचवी वल्ली।

जिसके चित्तमें कपट नहीं रहा सर्वथा टेढापन दूर हो गया है; जो बिल्कुल सरल स्वभाव है ऐसे योगीकी देहरूपी नगरीमें ११ वां सूर्यद्वार भी खुल जाता है। अतः जब स्वेच्छासे तद् द्वारा अन्तिम बहिः प्रयाण करता है तब फिर दोबारा जन्म उसका नहीं होता। वह मुक्त हो जाता है। ऐसा सूर्यद्वारा सिद्ध करनेवाला अन्तिम मृत्युयोगका अनुष्ठान करके फिर मरनेको शोकप्रद नहीं मानता। वरञ्च आनन्दद्वार समझता है और सर्वथा सब असन्तोष आदिसे ऊपर हुआ ब्रह्म-प्राप्ति-रूप आत्मा मुक्ति प्राप्त कर जाता है। विशेष प्रकारसे छुटकारा वह जन्ममृत्युसे सदाके लिये पा जाता है। ऐसा सर्वलोकचारी मुक्त हंस कहाता है। पवित्रमें बैठनेवाला ब्रह्मलोकी, अन्तरिक्षमें बैठा हुआ वसु कहलाता है। दो लोकोंके मध्यके पोलमें से गुजरता हुआ वसुसंज्ञा पाता है, किसी भक्तके बुलानेपर जब आकर उसकी यज्ञवेदीमें बैठता है तो होता कहलाता है, जब जप करनेवाले गृहस्थियोंको सुपथपर ले जानेके लिये उनके घर आता है तो अतिथि कहा जाता है। इसी प्रकार नेताओंको प्रेर रहा, श्रेष्ठ सज्जनोंको प्रेर रहा, समाधिस्थ जीवको वास्तविक ज्ञान दे रहा, यह अपना मुक्ति समय बिताता है। कभी आकाशमें आनन्द मनाता है कभी जलमें। कभी इन्द्रिय निर्माणकर आनन्द भोगता है। कभी पर्वत शिखरपर सैर करता है, कभी यथार्थ स्वस्वरूपमें आनन्द लूटता है। यह वास्तवमें बहुत बडा होता है। इसकी शक्ति अनन्तसी होती है। मुक्त आत्मा तो स्वच्छन्द विचरता है। प्रकृति तथा उसके कार्य सब उसके दास होते हैं।

देहके मध्य हृदयमें बैठे बौनेको सभी देवते पूजते हैं। वह अंगूठे जितना बौना बैठा लहू उछालता जाता है, जिससे पवित्र जीवनदायक तत्त्व तो ऊपर मस्तिष्ककी ओर उन्नत भागोंकी ओर ले जाया जाता है। और अपवित्र विषरूप नीचेको छोडा जाता है। प्राण उदान जीवन शक्तियां इससे छूट ऊपरको दौड रही हैं। अपान बाहरको मलोंको धकेलनेवाली शक्तियां नीचेको धंसी जारही हैं। लगातार यह बौना यही करता जा रहा है। इसी से सभी इसीके चरण चूमते हैं क्योंकि जीवनाधार तो यही है।

शरीरमें बैठा यह शरीरी जब अपने स्थानसे फिसलने लगता है और सदाके लिये इस देहको सर्वथा छोडने लगता है तब पीछे क्या बच रहता है? देह तो तुरंत गलने सडने लग जाती है। अमरतत्त्व तो यही था जो बच निकला यही वह मरने पीछे बचनेवाला आत्मा अमृत सत्य है जिसकी बाबत तूने तीसरा वर मांगा हुआ है।

कोई मरणधर्मा अन्दर शक्ति भरने तथा बाहर विष फैंकनेवाली प्राण अपानरूप जीवन शक्तियों द्वारा ही नहीं जीता परन्तु एक और ही से जीता है। जिसके आश्रय यह दोनों शक्तियां यहां कार्य कर रही हैं वह वही उपरोक्त बौना है।

प्यारे! तुझे यह गुप्तभेद पुरानी बात वेदशास्त्रका निचोड बतलाता हूं कि यह अत्यन्त गतिशील हुआ आत्मा मौत हो जानेपर किस अवस्थामें होता है।

कोई शरीरी तो नया शरीर लेनेके लिये जन्म पानेके लिये किन्हीं माताओंको प्राप्त हो जाते हैं और मनुष्य, पशु आदि किसी नयी योनिमें जन्म पा लेते हैं परन्तु कोई नित्य सनातन ब्रह्मको प्राप्त

कर जाते हैं। यह दो भेद उनके अपने किये कर्मों तथा प्राप्त किये ज्ञानके अनुकूल ही होते हैं। परम योगी निष्काम सात्त्विक कर्म सञ्चयवाले तत्त्वज्ञानी भगवद्भक्त ब्रह्मको पा जाते हैं। अन्य सब किसी न किसी योनिमें ही नया जन्म धारण कर लेते हैं। फिर फिर मरते जन्मते हैं, पहिले जन्म नहीं लेते।

शरीरके सभी अंग प्रत्यंगोंके सो जानेपर जो यह मनोमय पुरुष जागता रहता है और विविध इच्छाओंके अनुकूल चित्रविचित्र स्वप्नसंसार रचा लेता है, इसी कारण यह शीघ्रकारी निर्माता अमृत "वह" कहा जाता है। तत शुक्र अमृत ब्रह्म कहा जाता है क्योंकि वह अदृश्यपर अतीव शीघ्र सृष्टि रच लेता है। जब बाकी देह मरे समान होती है यह अमृत इतना कार्य कर रहा होता है। इसीसे पता चलता है कि वास्तवमें जाग्रतके लोक लोकान्तर भी सभी इसी मनोमय आत्माके आश्रित होंगे और वास्तवमें इसका नियम कोई उल्लंघ नहीं सकता। यही वह आत्मतत्त्व है जो संसार को निर्माण करता लोकोंको आश्रय देता तथा उनको नियममें रखता, परोक्ष शुक्र ब्रह्म अमृत है।

यह सम्पूर्ण भूतमात्र, प्राणि अप्राणिके अन्दर व्यापनेवाला सूक्ष्म सांझा तत्त्व है जो प्रत्येक भूतमें भूताकार हो रहा है और उसके बाहर भी है। ठीक जैसे एक ही विद्युत् अग्नि घरमें पहुंचकर कहीं पंखा चलानेवालेका रूप धार रहा है और कहीं लैम्प जला रहा है तथा कहीं नार्योंकी न्यायीं उस का ब्रुश चला रहा है। या दान्तोंके डॉक्टरका ब्रुश चलाकर उसके दन्तरोगियोंके दन्त साफ कर रहा है। ऐसे ही आग कहीं चूल्हेमें लाल लाट दिखा रही है, कहीं लकडीमें छिपी पडी है और कहीं सूर्यकी धूपके रूपमें श्वेत, गर्म, चादर, बिछी प्रतीत हो रही है।

वायु भी घरमें आकर खिडकी, द्वार, रोशनदान आदिमें से गजरते समय तदाकार हो जाती है। ऐसे ही एक ही सब भूतोंका अन्तर्यामि आत्मा प्रति भूत तदाकार हो रहा है और बाहर भी है। सभी भूतोंके अन्दर बाहर एक ही अन्तर्यामि सांझा आत्मा उसी प्रकार तद्रूप दीख रहा है। जिस प्रकार प्रति भूतमें प्रविष्ट अग्नि वायु तद्रूप दीख रहे हैं।

सम्पूर्ण संसारका प्रकाशक सूर्य सभी लोगोंकी आंख जैसे अपनी रश्मियोंको सबकी भौतिक चर्म चक्षुओंमें प्रविष्ट कराता हुआ। भी उन स्थूल आंखोंके स्थूल भौतिक दोषों, लाली, पानी बहना आदिसे दूषित नहीं होता। इसी प्रकार सुखीदुःखी सभी सांसारिक प्राणियोंके अन्दर सांझा व्याप रहा अन्तर्यामि आत्मा उनके सांसारिक दुःखसे दुःखी नहीं होता। वह दुःख उसके लिये सर्वथा बाह्य है उसके अपने आपमें नहीं केवल उन भूतोंमें है जो मानों उसके बाहर एक वस्त्रवत् लिपटे हुए हैं।

सभी भूतमात्रका अन्तर्यामि आत्मा ही एक ही अव्यक्त प्रकृति रूपको भिन्नभिन्न भूतोंका आकार देकर, अनेक रूप कर देता है और फिर उन सभी को अपने वशमें भी रखता है। जो अपने अन्दर उसे देखते हैं अनुभव करते हैं, वह बुद्धि, धृतिसम्पन्न योगी निरन्तर सनातन सुख प्राप्त करते हैं। अन्योंको वह सुख कैसे मिल सकता है?

नश्वर शरीरधारी अल्पज्ञ चेतन आत्माओंमें वह सर्वज्ञ नित्य सनातन भगवान् विद्यमान है, वह अकेला ही बहुत प्राणियोंके लिये इष्ट भोग रच देता है। उस भगवान्‌को अपने अन्दर स्थित जो साक्षात् अनुभव करते हैं, उन्हींको सदा रहनेवाली शान्ति मिलती है अन्योंको नहीं।

यहांपर नचिकेता प्रश्न करता है कि 'महाराज! परम सुख तो अवर्णनीय माना जाता है और उसे तो "वह यह" इन दोनों शब्दोंद्वारा ही वर्णनीय मानते हैं। फिर हम जिज्ञासु उसे कैसे जान पाएं कि वह चमकता है चमकाता है इत्यादि।"

इस पर यम महाराजने बडा सुन्दर उत्तर दिया है। वह यह है- प्यारे! उसके समक्ष न तो सूर्य चमकता है न चान्द तारे; नही ये बिजुलियें उस के सम्मुख अपनी चमक दिखा सकती हैं फिर साधारण आगने तो वहां क्या प्रकाश कर सकना था? सत्य बात यह है कि पहिले वह स्वयं महान् हिरण्यगर्भ प्रकाशता है। फिर उस के प्रकाश से ही पीछेसे सभी सूर्य, चान्द, तारे, विद्युत्, अग्नि सम्पूर्ण प्रकाशमय संसार उससे ही चमक लेकर उसके पीछे ही प्रकाशित हो रहा है। वह भगवान् तो स्वतः प्रकाशस्वरूप हैं। अन्य सब उसके आश्रय हैं।

छठी वल्ली।

मनरूपी घोडेपर सवार जीवात्मतत्त्व नित्य है पुराना है। इस की परमात्मारूपी उत्तम मूल है जिससे सम्बद्ध हो यह उर्ध्व गतिकर जाता है और इंद्रियां प्राण अन्नमय कोश इसकी नीचेकी शाखाएं हैं। यही मनोमय शरीरधारी आशुकारी सृष्टिनिर्माता अमर तत्त्व होने से और स्थूल दृष्टिवालों को अप्रत्यक्ष होनेसे तत् शुक्र, ब्रह्म, अमृत कहा जाता है। सभी लोक लोकान्तर इसीके आश्रय हैं। कोई इसकी आज्ञा उलांघ नहीं सकता, यही वह मौतके पीछे बचा रहनेवाला है। जो इस जगनियंता को अतीव शक्तिशाली बहुत भयानक बडा वज्र समझकर इसकी आज्ञा नहीं उलांघते, वह मुक्ति-पथपर पदार्पण करते हैं और शीघ्र मुक्ति पालेते हैं। क्योंकि यही जीवनशक्ति सम्पूर्ण जगत को गति दे रही है। जो कुछ भी इस प्रकृति अव्यक्तसे विकाररूप निकलता है। वह सभी बना हुआ पदार्थ इसी जीवनशक्तिमें ओतप्रोत ही गतिसमर्थ हो रहा है।

इसी आत्मा के भयसे अग्नि गरमी फैला रही है। सूर्य गरमी प्रकाश दे रहा है। बिजुली चमक दमक दिखला रही है। पवनवेगसे भागती फिरती है और पांचवां प्रबल कार्यकर्ता मृत्यु भी पूर्ण वेगसे दौड धूप कर रहा है। कोई अपने कार्यमें तनिक भी सुस्ती नहीं कर सकता।

यदि शरीरमेंसे जीवके हलकनेसे पहिले इसी जीवनमें शरीर जर्जर होनेसे पूर्व ही इस आत्मा को जान सके। तब तो कुशल है और फिर चाहे जिस सृष्टिमें जिस लोकमें चाहे वहीं शरीर धारण कर सकेगा। स्वेच्छासे नवीन शरीर निर्माण समर्थ हो जायगा अन्यथा सदा के लिये आवागमन चक्करमें ही परवश घुमाया जाता रहेगा।

जैसे शीशेमें मुंह दीखता है वैसे ही इस अन्तःकरण जितनेमें परमात्मा संसार आदि सभी कुछ दिखाई पड जाता है। जैसे स्वप्न दीखता है वैसे ही पितृलोकी मूर्तियां दिखाई पडती हैं। जैसे जल से सब ओर घिरा अपने को स्नान करनेवाला अनुभव करता है। वैसे गन्धर्व सम्बद्ध व्यक्ति अपने को गन्धर्व की प्राणमय कायामें फंसा अनुभव करता है और जैसे धूपमें चलते फिरते पुरुषों की छाया पडती है। इसी प्रकार ब्रह्मलोकमें अपना आप मनुष्य को परमात्मारूपी धूपपर छायामय प्रतीत होता है।

सोये हुए की स्थूल इन्द्रियां सो जाती हैं पर उसका अपना आप स्वप्नमें इन्द्रियों के सभी व्यापार करता है। अतः यह घटने बढने उन्नत अवनत होनेवाली स्थूल इन्द्रियां उस आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं पृथक् हैं। यही उत्पन्न होती हैं, नाश जाती हैं, वह अपना आप तो सर्वथा इनसे पृथक् स्वतंत्र अपने में पूर्ण है। यह विचार जिस बुद्धिमानने धैर्यपूर्वक दृढतासे पकड लिया अपने स्थिर कर लिया फिर उसे आंख फूटने, नाक कटने, भूजा टूटने, आदि पर भी शोक नहीं होता, बिना क्लोरोफार्म करण ही वह आप्रेशन करवा सकता है। सिक्ख शहीदों की तरह चर्खी बन्द कटवा सकता है।

इंद्रियों से मन बलवान है। अतः मन प्रबल हो तो दुर्बल इन्द्रियों से भी बलवानों का काम ले सकता है। इन्द्रियां उस को विवश नहीं कर सकतीं मन से प्रबल बुद्धि है। अतः विज्ञानवेत्ता अपनी विचारधारा को अपनी रुचि अनुकूल ही

प्रतीत हो रहा है।

वायु भी घरमें आकर खिड़की, द्वार, रोशनदान आदिमें से गुजरते समय तदाकार हो जाती

वर्णनीय मानते हैं। फिर हम जिज्ञासु उसे कैसे जान पायें कि वह चमकता है चमकाता है इत्यादि।"

चलाता है विचार धारा उस को विवश नहीं कर सकती। बुद्धिसे जीव आत्मचेतनतत्त्व बहुत प्रबल है। अतः चेतन अपने ज्ञानसाधन से जिस विषय का चाहता है ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान चेतन सत्ता को विवश नहीं कर सकता। प्रकृति जीवात्मासे प्रबल है। उसको आकृष्ट कर उसे सत्य पथसे भ्रष्टकर डालती है। प्रकृतिसे बलवान तो वह छिद्ररहित सर्वव्यापक परमात्माही है। जो सकल संसाररूपी नगरी में आनन्द से सो रहा है। जिसे जान कर ही प्राणी जन्ममृत्यु बन्धन से छूट जाता है और अमर हो जाता है क्यूंकि चाहे इन्द्रिय मन बुद्धी सभी पर केवल अपने आप ही आत्मा आधिपत्य प्राप्त कर सकता है। पर प्रकृति वशित्वपर तो तभी उसे प्राप्त हो सकता है जब वह प्रकृति से बलवान परम पुरुष का आश्रय ले।

इस भगवान्‌का रूप निगाहमें नहीं चढ़ता। कोई उसको इस आंखसे नहीं देख पाता। मनकी शक्ति प्रबुद्ध करके मनस्वी बनकर फिर मनको भी जाननेवाली बुद्धिसे और बुद्धिकी भी प्रेरक चेतन हार्दिक भावनासे जो उस भगवान्‌को साक्षात् अनुभव करते हैं, वही भगवद्वेत्ता अमर हो जाते हैं अन्य नहीं।

सबसे उच्च अवस्था जीवकी परमगति यही है कि पांचों ज्ञान इन्द्रियां तो दब जायं। मन भी उनके ही समान सुप्त हो जाय। बुद्धि भी सांसारिक व्यापार सर्वथा बन्द किये हो और केवल परमात्मनिरीक्षणके विना अन्य किसी तद्विपरीत कार्यमें नहीं लगी हो। उस निरुद्धयोग अवस्थाको परमगति कहते हैं क्योंकि सर्वश्रेष्ठ परम पुरुष भगवान्‌के पास जीवकी पहुंच उस समय हो चुकी होती है।

उस इन्द्रियोंके पक्का टिका होनेको ही योग मुनिजन मानते हैं। उस समय जीवका प्राकृतिक नशा बिल्कुल उतरा हुआ होता है। वह योग इन्द्रियोंका लय और भगवद्चेतनाका उदय मात्र होता है। आत्मा परमात्मामें अपने आपको भूल चुका होता है और अपनेको ब्रह्म ही मान आनन्द मना रहा होता है। अपना प्राकृतिक जीवन सर्वथा भूल चुका होता है। यही प्राकृतिक विचारोंका अस्त होना ब्राह्म भावनाका उदय होना योग है।

यह वाणिसे रसकी न्यायीं चखा नहीं जा सकता। आंखसे रूपकी न्यायीं देखा-नहीं जा सकता। मनसे विचारकी न्यायीं सोचा भी नहीं जा सकता। तात्पर्य यह कि मन तथा इन्द्रियोंकी पहुंचसे यह परे है। जो इसे अनुभव करते हैं वह केवल यह "है" इतना मात्र कहते हैं। जो इससे अधिक बोलते हैं उनसे यह कैसे अनुभव किया जा सकता है? यह "है" कह सकने की ही वास्तविक योग्यता प्राप्त करनी चाहिये। क्यों कि यह "है" कह सकनेके योग्य होनेपर ही स्वात्मा शान्ति पा सकता। आत्मा परमात्मानुभव पाकर ही सन्तुष्ट हो सकता है। अतः यह आत्मा है, यह परमात्मा है। इस आत्मसाक्षात्कार अवस्थाको अवश्य प्रयत्नसे प्राप्त ही कर लेना चाहिये।

जो भी इच्छायें मनुष्यके हृदयमें उठती हैं और हृदयके आश्रय रहती हैं, वह जब सब ही सर्वथा छूट जाती हैं। अर्थात् जब दिलसे लगाकर मनुष्य सिवाए भगवान्‌के और कुछ नहीं चाहता, तब वह मरणधर्मा नहीं रहता। वरञ्च अमर हो जाता है। यहीं इसी जीवनमें इसी मानवदेहमें वह परमात्माके साथ आनन्द भोगता है। इसी प्रकार जो गांठें दिलमें किसीके विरुद्ध और किसीके लाभके लिये, जब वह सर्वथा खुल चुकती हैं या टूट चुकती हैं, तब इसी जीवन में अपना मरणधर्म त्याग कर मनुष्य अमर हो जाता है। बस यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेदोपनिषत्सार है। अन्त में हे नचिकेता! प्रिय! तुम्हें मतलब की बात फिर बतला देता हूं उस को पक्काकर ले; वह यह है—

दौड धूप कर रहा है। कोई अपने कार्यम साधक सकता मन में प्रबल बुद्धि है। अतः विज्ञानवेत्ता
भी सुस्ती नहीं कर सकता। अपनी विचारधारा को अपनी रुचि अनुकूल ...

हृदयसम्बधि तो सैंकडो रुधिर शिराएँ शरीर को व्याप रही हैं। पर एक ऊन में से विचित्र है जो निकल कर माथेको चली गई है। बस जब जीव मरते समय उर्ध्वगमन करता है तो इसी में ऊपर जा चढता है और सूर्यद्वारसे बाहर छलांग लगा अमृतत्त्व प्राप्त कर जाता है। जो बाकी सैंकडों हैं उन में से किसी के रास्ते कोई जीव निकल किसी योनि में चला जाता है और किसी दूसरी के रास्ते कोई दूसरा जीव किसी अन्य योनि में। इसी प्रकार उन सैंकडों के रास्ते विविध कर्म ज्ञानवाले जीव सैंकडों ही भिन्न भिन्न योनियों में जा जन्म पा लेते हैं।

अङ्गूठे जितना शरीरी पुरुष स्थूल शरीर के अन्दर बैठा आत्मा सदा ही मनुष्योंके हृदयमें बैठा सम्यक् प्रकार वहां टिका रहता है। उसको अपने स्थूल शरीर में से दृढतापूर्वक यूं निकाले जैसे सरकंडेकी मुञ्ज में से अन्दर का शर (काना) खींच कर लडके निकाल लिया करते हैं। उस अन्दर वाले को अमर पवित्र शीघ्रकारि परोक्ष सूक्ष्म आत्मा मानें जानें अनुभव करें पहिचानें कि मरे पीछे यह बच जाता है।

मृत्यु भगवान् यमराज की कही यह मृत्युविद्या और सम्पूर्ण योगविधि प्राप्त करके तदनुकूल आचरण कर नचिकेता परमात्माको पा गया, मल रहित हो गया, रजोगुण सर्वथा वश में कर गया मौत जीत अमर हो गया। यही सब सिद्धियां अन्य जिज्ञासु इस उपनिषत् के ध्यान कर्ता प्राप्त करेंगे जो इस आत्मसम्बन्धि सम्पूर्ण ज्ञान को जान कर इस में कहे योग से परमात्मा को ध्यायेंगे।

अवश्य वह शक्तिशाली भगवान् इस विद्याके देने लेने वालों की रक्षा करें। अवश्य उनकी सहायतासे यह दोनों अमृतभोग भोगें। अवश्य उन के बल से यह दोनों अपना ब्राह्म वीर्य उन्नत करें। हे भगवन्! आप की सहायता कृपादया से हम लेखक पाठकों का लिखा पढा तेजस्वि हो संसार में प्रकाशित हो। हम परस्पर द्वेष सर्वथा न करते हुए एक दूसरे को सहायक हों।

आपकी कृपासे त्रिविधताप हम सभीके नष्ट हों॥

इति कठोपनिषत्समाप्ता॥